ISSN 2349-1809

पुस्तक-वार्ता

अंक 53 ■ नई दिल्ली, जुलाई–अगस्त 2014

संरक्षक संपादक
गिरीश्वर मिश्र (*कुलपति*)

संपादक
विमल झा

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा–442005(महाराष्ट्र)
Website: www.hindivishwa.org

संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)

एक अंकः ₹20
वार्षिक सदस्यता : ₹120

चेक कमीशन जोड़कर वार्षिक ₹145 और द्वैवार्षिक ₹265 म.गां.अं.हिं.वि, वर्धा को भेजें। मनीआर्डर स्वीकार्य नहीं।

पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 01, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली–110032 (मो. 09212796256)

मुखपृष्ठ : जे. पी. त्रिपाठी

संपादकीय संपर्क : 132 ए, ऊना इनक्लेव,
मयूर विहार–1, दिल्ली–110091 (मो. 09910186568)
E-mail: pustakvimal@gmail.com

प्रकाशन प्रभारीः राजेश यादव, प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्रः
प्रकाशन विभागः महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा–442005 (महाराष्ट्र)
फोन:07125–232943

PUSTAK-VARTA
A Bi-monthly journal of book Reviews in Hindi published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Post-Gandhi Hills, Wardha-442005 (Mahrashtra)

छपाई: रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली–110032
email:ruchikaprinters2005@gmail.com

इस बार

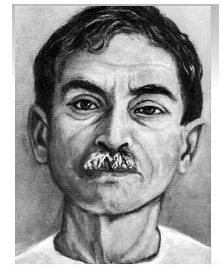

‘भारतीयता’ कथाकार और विचारक प्रेमचन्द के कथा–साहित्य की पहचान है। उन पर जिन गांधीवादी विचारों के प्रभाव का जिक्र बराबर किया जाता रहा है, उन गांधी की राजनीति भी तो भारतीय परंपरा और संस्कृति के ही तत्वों से आकार लेती है।

जन–संस्कृति के कथाकार–प्रेमचंद : **निर्मला जैन** 4

कृष्ण कथा–विचार कथा: **चन्द्रदेव यादव** 11
इतिहास के चक्के तले... : **प्रियदर्शन** 15
अन्हियारे तलछट में क्या चमका? **सत्यदेव त्रिपाठी** 18
भाषा की कोख से जनमी...: **शशिभूषण** 22
चमकती संभावनाओं की दहलीज... : **अवनीश मिश्र** 25
अपने अपने भयों से गुजरते हुए : **सुरेश उनियाल** 28
आंखों की नमी का स्वाद... : **मनोज मोहन** 30
आलोचनात्मक संस्मरण से गुजरते हुए : **राजकुमार** 32
...किसी रोते हुए बच्चे को हंसाना : **क्षमा शर्मा** 36
आधुनिक कविता में स्त्री विमर्श: **क्सेनिया लेसिक** 40
टैगोर के व्यक्तित्व...: **उषा महाजन** 42
...विचारधारा का दबाव: **मनोज कुमार राय** 45
असंतुष्टि से उपजी हुई...: **उमा शंकर चौधरी** 48
वैचारिक लेखन और...: **अशोक नाथ त्रिपाठी** 50

किरण देसाई ने पहले उपन्यास ‘हल्लाबोल इन द ग्वावा आर्चर्ड’ से अलग इस उपन्यास में सनक से अधिक त्रासदी के विमर्श को महत्व दिया है। हर चरित्र में कई तरह की टूट–फूट दिखायी देती है। स्थानीयता–क्षेत्रवाद के अपने भीतरी घमासान हैं।

किरण देसाई को पढ़ते हुए: **परमानंद श्रीवास्तव** 7

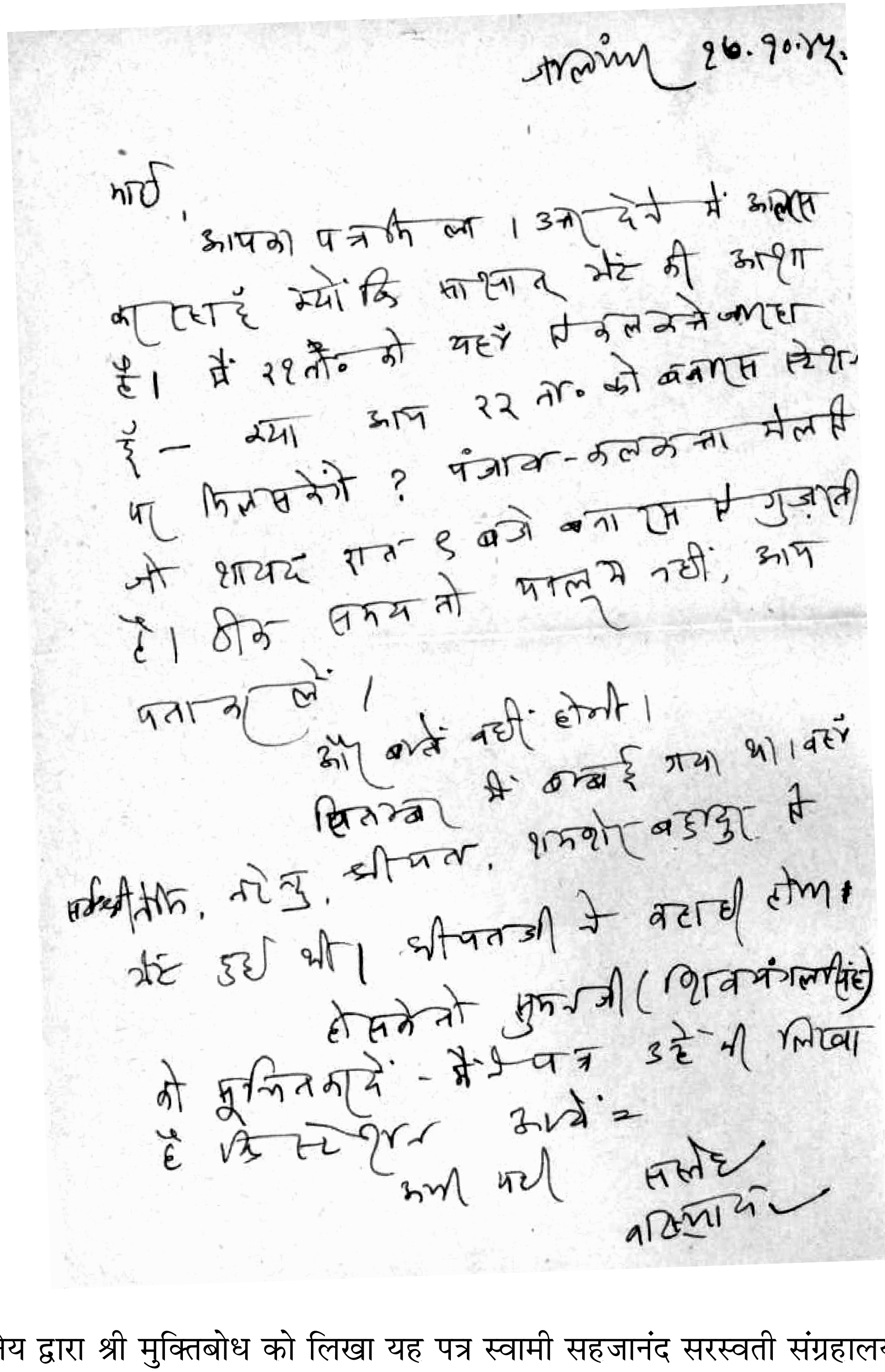
इलाहाबाद १६.१०.५२.

भाई,
आपका पत्र मिला। उत्तर देने में आलस कर रहा हूँ क्योंकि साक्षात् भेंट की आशा है। मैं २१ तां० को यहाँ से कलकत्ते जा रहा हूँ — क्या आप २२ तां० को बनारस स्टेशन पर मिल सकेंगे? पंजाब-कलकत्ता मेल से जो शायद रात ९ बजे बनारस से गुज़रती है। ठीक समय तो मालूम नहीं, आप पता कर लें।

और बातें वहीं होंगी।

सितम्बर में बम्बई गया था। वहाँ शमशेर बहादुर से [illegible], नरेन्द्र, श्रीपत, से भेंट हुई थी। श्रीपतजी ने बताया होगा।

हो सके तो सुमनजी (शिवमंगलसिंह) को सूचित कर दें - मैंने पत्र उन्हें भी लिखा है कि स्टेशन आवें।

अभी यहीं

सस्नेह
वात्स्यायन

श्री अज्ञेय द्वारा श्री मुक्तिबोध को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

संपादकीय

हिंदी जगत में यह चर्चा आम है कि पुस्तकों के प्रति लोगों की रुझान बेहद कम है। लोग किताबें पढ़ने के बजाय बहस-गप्पबाजी में ज्यादा रुचि दिखाते हैं। उनका कुछ समय टीवी-सिनेमा आदि की भेंट चढ़ जाता है और बाकी समय जीवन की आपाधापी से निपटने में। पुस्तकों की तरफ तो ध्यान ही नहीं जाता। हिंदी के कई बड़े साहित्यकारों को शिकायत है कि हिंदीभाषी समाज को अपने साहित्यकार से प्यार नहीं है। उनका कहना है कि यूरोप या अन्य पश्चिमी देशों में लोग सामान्य बातचीत में भी शेक्सपीयर, बर्नार्ड शॉ, सार्त्र, मिल्टन आदि लेखकों के उद्धरण देते रहते हैं लेकिन अपने यहां प्रेमचन्द तक को याद नहीं किया जाता। कुछ इसी तरह की शिकायतें हिंदी प्रकाशकों की तरफ से भी सुनायी देती हैं। उनका दुख है कि लोग चूंकि पढ़ते नहीं हैं इसलिए किताबें खरीदते ही नहीं। कुछ लोग खरीदते भी हैं तो प्राय: किसी चर्चित अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद या फिर कोई क्लासिक कृति। नई पुस्तकें तो बहुत कम बिकती हैं। साहित्य में कौन सी नयी धारा जोर पकड़ रही है या समाजविज्ञान के क्षेत्र में क्या कुछ नया घट रहा है इसमें मुट्ठी भर हिंदी पाठकों की ही रुचि रहती है। इसी कारण हिंदी प्रकाशक संकटग्रस्त रहता है और प्रकाशन चलाने के लिए उसे जोड़-तोड़ करना पड़ता है। यह हिंदी पाठक, साहित्यकार और प्रकाशक के बीच के संबंधों का एक पक्ष है। एक दूसरा पक्ष है जो कहता है कि हिंदी में पठनीय पुस्तकों की बेहद कमी है। अब ऐसी पुस्तकें लिखी और छापी ही नहीं जातीं कि पाठक उनकी तरफ स्वाभाविक रूप से आकृष्ट हों। इसीलिए जो पॉपुलर साहित्य है उसकी बिक्री लगातार बढ़ती गई है और उसने अपना एक पाठक वर्ग तैयार किया है। यह वर्ग पॉपुलर साहित्य की यथासंभव वकालत करता है और गंभीर पुस्तकों के प्रति पाठकों की उदासीनता को उनकी नियति करार देता है। ये दोनों पक्ष अतिवाद के शिकार हैं। यह रुदन कतई गले नहीं उतरता कि हिंदी में स्तरीय व सुरुचिपूर्ण पुस्तकें बिकती नहीं हैं या उनका पाठक वर्ग नहीं है। आम पाठक भी अच्छी पुस्तकें तलाशता दिख जाता है। आखिर पुस्तक मेलों में जो भीड़ जुटती है वो क्या सिर्फ तमाशा देखने के लिए जाती है? क्या वहां गैर साहित्यिक लोग पुस्तकें नहीं खरीदते? क्या वहां सिर्फ अनूदित पुस्तकें बिकती हैं। यह जरूर है कि हमारे देश की विशाल जनसंख्या के मद्देनजर पुस्तकें उस तरह नहीं बिकतीं या पढ़ी जाती हैं जितनी होनी चाहिए लेकिन एकदम से निराशावादी परिदृश्य भी नहीं है। अगर ऐसी स्थिति होती तो हिंदी के प्रकाशकों का आर्थिक ग्राफ यूं ऊंचाइयां न छूता और आए दिन नए-नए प्रकाशक इस उद्योग में कदम नहीं रखते। जहां तक दूसरे वर्ग का सवाल है तो उसका तर्क एकदम गले नहीं उतरता। पुस्तकों की बिक्री के आधार पर गुणवत्ता का निर्धारण नहीं किया जा सकता। गंभीर पुस्तकों के पाठक लुगदी पुस्तकों के पाठकों की तुलना में हमेशा कम रहे हैं। जासूसी किताबों का भी एक खास पाठक वर्ग हमेशा रहा है, इससे उसे साहित्य का दर्जा तो नहीं मिल जाएगा। जो सुरुचिपूर्ण, स्तरीय व उद्देश्यपरक साहित्य है वह कम भले ही बिकता है लेकिन उसका महत्व लंबे समय तक बना रहता है।

यह पुस्तक वार्ता का जुलाई-अगस्त 2014 का अंक है। कथा सम्राट प्रेमचंद की जयंती 31 जुलाई को पड़ती है। यह उनके पुण्य स्मरण का वक्त है, इसलिए इस अंक की शुरुआत हम उनकी स्मृति से कर रहे हैं। आपकी प्रतिक्रियाओं का इंतजार है...

विमल झा

■**निर्मला जैन**
वरिष्ठ आलोचक

संपर्क: ए-20/17,
डीएलएफ फेज़-1,
गुड़गांव-122002

भारत की जन-संस्कृति के कथाकार-प्रेमचंद

प्रेमचन्द पहले उर्दू के अफ़सानानिगार थे, हिंदी के कथाकार बाद में हुए। इसलिए क्या इतना काफी है कि उर्दू के पाठक उन्हें अपना और हिंदी के पाठक उन्हें अपना लेखक मानकर पढ़ते-समझते रहें। वे दोनों ही भाषाओं के मान्य लेखक हैं। दरअसल वे उस हिंदी के लेखक हैं जिसमें उर्दू शामिल है, जो देश की सबसे व्यापक भाषा है।

प्रेमचन्द के बारे में 1978 में उनके एक आलोचक राधाकृष्ण ने लिखा था, 'अपने अहद में बंगला में शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय और हिंदी में प्रेमचन्द बहुत मशहूर थे। ...शरतचन्द्र बंगाली अदब में अचानक आए और छा गए...इसके बरक्स हिंदी की दुनिया में प्रेमचन्द किसी हादसे की तरह नहीं आए। वह अपनी जांफ़िशानी (जी-तोड़ मेहनत) और गैरमामूली रियाज़त (तपस्या) के ज़रिए ही दुनिया-ए-अदब में दाखिल हुए। ...हिंदी अदब की दुनिया में प्रेमचन्द को जितनी इज्ज़त मिलनी चाहिए थी, उतनी उनकी ज़िंदगी में नहीं मिल सकी। ...उनकी मौत के बाद ही लोगों ने उनकी तरफ़ खातिरखाह तवज्जोह (अपेक्षित ध्यान) दी।'

उनके बारे में यह राय जितनी सच है, उतना ही सच यह भी है कि 'उपन्यास सम्राट' विशेषण एक सदी से अधिक वक्त गुज़र जाने पर भी उनके संदर्भ में अप्रासंगिक नहीं हुआ है। यूं कहानियां भी उन्होंने गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से इतनी लिखी हैं कि उन्हें 'कथा-सम्राट' कहना शायद ज़्यादा उपयुक्त होगा। यह एहसास कि वे एक ऐसे रचनाकार हैं जो जाते हुए, बीतते हुए काल के साथ बीतते नहीं जीते ही चले जाते हैं, समय उन्हें मार नहीं पाता, उनके महत्व को समझने के लिए काफी है। पर खुद से यह सवाल करना भी ज़रूरी है कि इस कालजयी व्यक्तित्व के कृतित्व की मुकम्मल समझ में कोई कोना, कोई पक्ष अब भी कमदेखा तो नहीं रह गया है?

सब जानते हैं कि प्रेमचन्द पहले उर्दू के अफ़साना निगार थे, हिंदी के कथाकार बाद में हुए। इसलिए क्या इतना काफी है कि उर्दू के पाठक उन्हें अपना और हिंदी के पाठक उन्हें अपना लेखक मानकर पढ़ते-समझते रहें। जाहिर है प्रेमचन्द इस यात्रा के दौरान दो अलग पाठक समुदायों को संबोधित कर रहे थे। उनके कथानकों के चुनाव और भाषिक व्यवहार पर इस वस्तुस्थिति से कोई अंतर पड़ा या नहीं? इसका एक लाभ तो यह हुआ ही कि पूरे भारतवर्ष में किसी न किसी स्तर पर हिंदी या उर्दू के माध्यम से शिक्षा पाने वाला हर विद्यार्थी उनसे परिचित हो जाता है। वे दोनों ही भाषाओं के मान्य लेखक हैं। दरअसल वे उस हिंदी के लेखक हैं जिसमें उर्दू शामिल है, जो देश की सबसे व्यापक भाषा है। देश के आधे से अधिक भाग में आमतौर पर बोली जाती है और लगभग पूरे प्रायद्वीप में समझ ली जाती है। इसी कारण वे आज भी देश के सबसे ज़्यादा पढ़े और समझे जाने वाले लेखक हैं। लोकप्रियता की दृष्टि से वे भक्त कवि तुलसीदास की ही पंक्ति में आते हैं। यह बात अलग है कि दोनों की लोकप्रियता के कारण एक नहीं है। इसलिए कि दोनों का समय एक नहीं है। समय की स्थितियां और अपेक्षाएं भी अलग-अलग हैं। समानता इतनी ही है कि दोनों ने अपने समय की नैतिक मान्यताओं का अतिक्रमण नहीं किया। अपने ढंग से उन्हें पुनर्नियोजित किया, उन्हें नयी व्यवस्था दी, ताकि वे गतिशील बनें। अपने-अपने ढंग से दोनों ही यथास्थिति के समर्थक नहीं थे।

यही कारण है कि प्रेमचन्द को जब 'यथार्थ' और 'आदर्श' के बने बनाए खानों में अटाना संभव नहीं हुआ तो पाठकों ने उनके लिए एक तीसरे खाने की सृष्टि की और उसका नामकरण कर दिया 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद'। इससे प्रेमचन्द के अध्यापन के लिए एक समझौतावादी रास्ता जरूर निकल आया और लम्बे समय तक प्रेमचन्द को सरलीकृत फार्मूलों में बांधकर पढ़ा-पढ़ाया या समझा-समझाया जाता रहा। इस बात पर ध्यान देने की जरूरत को हम टालते रहे कि कोई कालजीवी रचनाकार 'खानों' की भाषा में नहीं सोचता। वह सोच ही नहीं सकता। 'यथार्थ' के नाम पर यदि वह

जीवन में घटित होने वाली रोज़मर्रा की घटनाओं-स्थितियों का सामयिक विवरण भर पेश करने को अपना दायित्व मान ले, तो उसकी रचनाओं का महत्व और प्रासंगिकता, अखबार से बहुत ज्यादा नहीं ठहरेगी।

रचनाकार के लिए कोई घटना, कोई समस्या महज 'सामाजिक' या 'राष्ट्रीय' नहीं होती। उसके लिए वह तभी मायने रखती है जब वह जीवनपरक और मानवपरक हो। जब यथार्थ जीवन के पात्र और उनके चरित्र उसे भीतर तक विगलित कर दें। इस हद तक कि वह उन्हें अपनी रचनाओं में पुनर्जीवित करने के लिए उत्प्रेरित हो जाए। अपने निजत्व की सीमाओं को ढहाकर, उनका अतिक्रमण करके ही वह चिरजीवी पात्र-सृष्टि करने में सफल होता है। वह 'गोदान' का 'होरी' हो या 'कफ़न' के 'घीसू-माधो'।

सफल रचना अपनी अंतिम परिणति में पाठक के भीतर जो कठिन है, कठोर है उसे द्रवित कर उसमें अपने निजत्व की सीमाओं का अतिक्रमण करने की सामर्थ्य पैदा करती है। हो सकता है इसके आगे उसके भीतर कर्म की चेतना भी जगा दे। उसे उत्प्रेरित करे उस व्यवस्था के विरुद्ध खड़े होने के लिए जो ऐसी स्थितियां पैदा करने के लिए जिम्मेदार है। प्रेमचन्द अपनी रचनाओं के माध्यम से मनुष्य और समाज, उनके हिताहित, उनके स्वास्थ्य से बड़ी घनिष्ठता से जुड़े रहे। समाज भी कैसा - जिसकी जमीन ठेठ भारतीय है। इसलिए उसकी समस्याओं के समाधान भी भारतीय परंपरा से जुड़े हैं। एक दौर है जब वे अपने समय की गांधीवादी सोच से प्रभावित हैं।

'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' में यदि समस्या का समाधान उन्हें आश्रम खुलवाने में दिखायी पड़ता है, तो 'रंगभूमि' में वे 'सत्याग्रह' की महिमा का निरूपण करते हैं। 'गोदान' तक पहुंचकर वे इस गांधीवादी ऋण भार से मुक्त जरूर हो जाते हैं, पर भारतीय संदर्भ और परंपराओं से नहीं। वे पाठक में सीधी सक्रियता भले ही न जगाते हों, पर अपने पाठक में गहरे विषाद और अनुचिंतन का सृजन करते हैं। उसके चित्त को करुणा-द्रवित कर देते हैं-ठेठ भारतीय परंपरा के अनुरूप।

यह काल्पनिकता से ठोस वास्तविकता में वापसी है। मन्मथनाथ गुप्त ने इसे लक्ष्य करके कहा था कि 'अब तक प्रेमचन्द जिन काल्पनिक डैनों के सहारे अपने उपन्यास में उड़ानें भर रहे थे, उन्होंने देख लिया है कि वे डैने वहां ले जाने में समर्थ नहीं हैं। इसीलिए वे 'गोदान' में अपने वास्तविक जगत में लौटकर अपने पैरों पर खड़े होकर आकाश की ओर ताक रहे हैं। इस जगत में होरी के लिए जीना नामुमकिन है, इसीलिए आकाश में वह निर्वासित है।' पर जिस आकाश में वह निर्वासित है, वह आकाश भी तो भारत का ही है।

यह 'भारतीयता' कथाकार और विचारक प्रेमचन्द के कथा-साहित्य की पहचान है। उन पर जिन गांधीवादी विचारों के प्रभाव का जिक्र बराबर किया जाता रहा है, उन गांधी की राजनीति भी तो भारतीय परंपरा और संस्कृति के ही तत्वों से आकार लेती है। वे भी तो भारतीय मानस को भारतीय भाषा में भारतीय मिथकों, मुहावरों के द्वारा ही कायल और सक्रिय करते थे। प्रेमचन्द के साहित्य में भी यही जन-संबद्धता, जीवन-मूल्यों का निर्माण करने की, पाठकों की रुचि का परिष्कार करने की व्यग्रता अनेक रूपों में देखी जा सकती है।

उन्होंने देशी-विदेशी साहित्यकारों का साहित्य पढ़ा था। उनके विचारों को आत्मसात किया था। स्वयं कबूल किया था कि 'मैं वोलशेविक उसूलों का लगभग कायल हो गया हूं।' उनकी वैचारिक-प्रतिबद्धता का प्रमाण है उनका प्रसिद्ध निबंध-'महाजनी सभ्यता।' पर अपनी वैचारिकता को वे रचना पर आरोपित नहीं करते। विषय-वस्तु के चयन और प्रस्तुति में उनकी जीवन-दृष्टि की भूमिका परोक्ष रूप में रहती तो है, पर वह जीवन की स्वाभाविकता में हस्तक्षेप नहीं करती। इसका प्रमाण है उनकी भाषा जो एकदम जीवनानुसारी है। सहज, मुहावरेदार, बोलियों के शब्दों के यथावश्यक समावेश से जीवंत। वे जैसा देखते-सुनते हैं, वैसा ही लिखते हैं। न कहीं कोई बनावटीपन न चमत्कार पैदा करने की कोशिश। इसीलिए उनकी हिंदी और उर्दू दोनों सहज प्रवाही हैं। जीवन की सहजता और जटिलता नामालूम ढंग से उनकी भाषा में ऐसे अन्त:प्रवेश कर जाती है मानों आप उन्हें पढ़ नहीं सुन-देख रहे हों।

जीवन भी कैसा। जिसका पाट इतना चौड़ा है जिसमें हर आयु, हर जाति, हर पेशे, हर वर्ग और धर्म के लोग समाए हैं। बहुतायत वहां उनकी है जो जरूरतमंद हैं, जिनकी तरफ वे पाठकों का ध्यान दिलाना चाहते हैं। जो नज़र के सामने पर ध्यान की, संवेदना की ओट में हैं। ऐसे पात्रों के मनोजगत में उनकी पैठ है, मनुष्यों के ही नहीं पशुओं तक के मनोजगत को वे बखूबी पहचानते हैं।

'भारतीयता' कथाकार और विचारक प्रेमचन्द के कथा-साहित्य की पहचान है। उन पर जिन गांधीवादी विचारों के प्रभाव का जिक्र बराबर किया जाता रहा है, उन गांधी की राजनीति भी तो भारतीय परंपरा और संस्कृति के ही तत्वों से आकार लेती है। वे भी तो भारतीय मानस को भारतीय भाषा में भारतीय मिथकों, मुहावरों के द्वारा ही कायल और सक्रिय करते थे। प्रेमचन्द के साहित्य में भी यही जन-संबद्धता, जीवन-मूल्यों का निर्माण करने की, पाठकों की रुचि का परिष्कार करने की व्यग्रता अनेक रूपों में देखी जा सकती है।

उनका यह सरोकार सिर्फ हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र के जन-जीवन तक सीमित नहीं है। उनमें कुछ ऐसा है जिसके कारण वे भारत के अन्य भाषा-भाषियों के बीच भी जाने जाते हैं- राष्ट्रीय एकता के प्रवक्ता के रूप में। इसका एक कारण यह भी था कि उन्होंने 'हंस' का संपादक होने के नाते, पत्रिका के मंडल में अखिल भारतीय स्तर पर लेखकों का सहयोग लिया था। 'हंस' में उन्होंने दूसरी भाषाओं की उत्कृष्ट रचनाओं के अनुवाद छापे। 'मंडल' में मलयालम के प्रसिद्ध साहित्यकार-कवि वल्लतोल और के. एम. पनिक्कर को शामिल किया। अन्य भाषाओं के लेखकों पर लेख प्रकाशित किए और महात्मा गांधी की अध्यक्षता में आयोजित 1935 के हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में प्रेमचन्द ने 'भारतीय साहित्य सम्मेलन' की स्थापना का प्रस्ताव प्रस्तुत किया था।

वे हिंदी के लेखक की हैसियत से यह अपना कर्तव्य समझते थे कि देश की सभी भाषाओं को हिंदी के माध्यम से एक दूसरे के निकट लाएं, विशेषकर ऐसी स्थिति में जब आंदोलन के संदर्भ में हिंदी की पहुंच दक्षिण भारत में हो गई थी। प्रेमचन्द ने स्वयं 29 दिसम्बर, 1934 को दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के चौथे अधिवेशन का उद्घाटन करने के लिए चेन्नई की यात्रा की थी। इस यात्रा के दौरान वे बंगलौर और मैसूर भी गए। अपनी राष्ट्रीय चेतना और संपूर्ण साहित्य के प्रति लगाव के कारण ही अन्य भारतीय भाषाओं का विशेषकर सुदूर दक्षिणवासियों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ। भारतीय भाषाओं में प्रेमचन्द शायद हिंदी के सबसे ज्यादा जाने जानेवाले लेखक हैं। उन पर भारतीय लेखक के रूप में जिस तरह विचार होना चाहिए था, वह अभी भी बाकी है।

इसके अलावा विचार इस बात पर भी होना चाहिए कि कुछ गिने चुने, आधे-अधूरे से प्रयासों को छोड़कर जो उनकी एक रचना के दो पाठों की तुलना के रूप में सामने आए हैं, ज्यादातर हिंदी के पाठक उर्दू के प्रेमचन्द से नावाकिफ़ हैं और उर्दू वाले हिंदी के प्रेमचन्द से। यह कहना शायद गलत नहीं होगा कि हिंदी के प्रेमचन्द को लेखक के रूप में पूरी तरह समझने के लिए उनके प्रारंभिक संस्कार और उर्दू भाषा में उनके लेखन और संपादन के चेतन और अचेतन प्रभाव का अध्ययन बहुत दूर तक सहायक हो सकता है। इसी तरह अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए बाद में उन्होंने हिंदी को जिस तरह और जिस हद तक अपनाया, उनकी उस प्रवृत्ति को ठीक-ठीक समझे बगैर उर्दू के प्रेमचन्द की तस्वीर और समझ मुकम्मल नहीं होती।

पर वास्तविकता यह है कि किसी एक भाषा में ही प्रेमचन्द के साहित्य में इतनी कशमकश है, इतनी बहस है कि उनमें से प्रेमचन्द की कोई सर्वसम्मत तस्वीर बनाना कठिन है। दिक्कत यह भी है कि यह व्याख्याबहुल परिदृश्य उनके लेखन की समृद्ध बहुआयामी संभावनाओं का बोध नहीं कराता। उन्हें खंड-खंड कर, अपनी वैचारिकता, अपने संस्कार, अपने हठाग्रहों के आधार पर अलग खानों में डालकर उन्हें विशेष कोण से देखने का आग्रह करता है। जबकि पूर्वग्रह से मुक्त होकर, जो साहित्य के सहृदय आलोचक की शर्त है, देखने पर प्रेमचन्द राजनीतिक हलचल से भरे एक ऐतिहासिक दौर में केवल उर्दू-हिंदी समाज के नहीं, भारतीय जन-मानस के वस्तुनिष्ठ रचनाकार के रूप में उभरकर आएंगे।

जर्मनी के दार्शनिक कांट ने कहा था कि किसी साहित्यिक कृति की पहचान यह है कि वह आपको 'एनिमेट' करती है। वह आपको प्राणवान करती है। अपनी बात की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि ऐसी रचना को जब लोग पढ़ते हैं तो वह पाठकों को इजाज़त देती है कि थोड़ी देर के लिए वे उसे एक तरफ रख दें और उस रचना से उनके दिमाग में कुछ अतिरिक्त विचारों की जो श्रृंखला पैदा होती है, उसके बारे में सोचें। प्रेमचन्द को पढ़ने-पढ़ाने के लम्बे दौर से गुजरने के बाद, शायद अब अपेक्षा इस बात की है कि पाठक उनके साहित्य को थोड़ी देर के लिए एक तरफ रखकर उन अतिरिक्त विचारों की श्रृंखला के बारे में सोचें जो उनकी रचनाओं से पाठक की हैसियत से उनके अपने दिमाग में पैदा हुई हैं। ✱

क्षति की विरासत: किरण देसाई को पढ़ते हुए

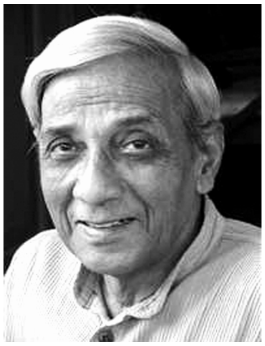

■ परमानंद श्रीवास्तव

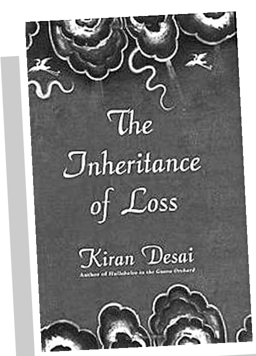

पुस्तक: द इनहेरिटेंस ऑफ लॉस
लेखिका: किरण देसाई
प्रकाशक: अटलांटिक मंथली प्रेस (यूएस) एवं हैमिश हैमिल्टन (यूएस)

'द इनहेरिटेंस ऑफ लॉस' उपन्यास के लिए बुकर पुरस्कार से सम्मानित किरण देसाई का एक पात्र कहता है: 'समय को चलते रहना चाहिए। उस जीवन को न चुनो, जो ठहर जाता है- गुजर पाने में असमर्थ।' किरण देसाई को बुकर जैसे बड़े पुरस्कार के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। कलिम्पोंग के गोरखालैंड वाले संघर्ष को आधार मानकर लिखे उपन्यास 'द इनहेरिटेंस ऑफ लॉस' को भारतीय दृष्टि का प्रतिफल माना जा सकता है। चरित्रों को सहानुभूतिपूर्वक चित्रित करते हुए किरण देसाई अपनी विनोद वृत्ति नहीं खोतीं। प्रेम के विमर्श में ही देशकाल, इतिहास-भूगोल का विमर्श समाया है। प्रेम है, प्रतीक्षा है – तो क्षति का एहसास भी है। इतिहास भी निजता के साथ है। विस्थापन की नियति को एक भारतीय भी जानता है।

'द इनहेरिटेंस ऑफ लॉस' – उपन्यास हिम शिखरों से न्यूयार्क के विस्थापन केंद्रों तक का दिलचस्प वृत्तांत है। इतिहास, राजनीति, अंधेरे समय का आख्यान, विमर्श, उत्तर औपनिवेशिक फॉक – किरण देसाई अपने उपन्यास को ढीले-ढाले रूपबंध में विन्यस्त करती हैं। बहुध्वन्यात्मक बहुसांस्कृतिक आख्यान में स्पेस बहुत कुछ है। पूर्व-पश्चिम, अमीरी-गरीबी, ट्रेजिक-कॉमिक का द्वंद्व उपन्यास की संरचनात्मक मुक्ति को संभव करता है। विरासत है तो विस्थापन भी अंधेरे समय का यथार्थ है। आतंक है तो आतंक का प्रतिवाद भी है। एक राष्ट्र का शोकगीत भी यहां इकहरा नहीं है, विस्मयप्रद और कौतुकपूर्ण है।

उपन्यास के शुरू में बोर्खेस की कविता है – 'हवा में उनके दिल की लालच है / रात आक्रामक है / वे मनुष्यता के बारे में संबोधन हैं। वे घर की बतकही हैं / मेरा घर है या गिटार की लय / कुछ पोर्ट्रेट / एक पुरानी तलवार / समय मेरा चहेता है / वह मुझमें है / मेरी छाया से भी चुप / मेरा नाम कुछ भी हो सकता है।' कंचनजंघा एक जगह का नाम भर नहीं है। साईं नाम की किशोरी नेपाली ट्यूटर से प्रेम करती है। कुल्लू, मनाली, गोरखालैंड, कलिम्पोंग, अवकाशप्राप्त जज, रसोइया, हाट-बाजार एक दूसरे में गड्डमड्ड हैं।

किरण देसाई के शब्द हैं – 'मैं हरेक चीज को भारतीयता के लेंस से ही देखती हूं। वाकई उस नजरिए के बगैर मैं लिख ही नहीं सकती।' किरण देसाई में सनक की जगह अंतर्दृष्टि है, संतुलन है, विस्थापन का बोध है तो परंपरा का बोध भी है। कलिम्पोंग के पहाड़ी घर में बुआ के साथ रहते हुए किरण देसाई ने जाना कि जीवन में, 'देश' क्या होता है। देश का भूगोल क्या होता है। गोरखालैंड यही देश है जिसके लिए आंदोलन अनिवार्य हो चला है। यह उपन्यास पत्रकार का वृत्तांत नहीं है, कथाकार की कृति है।

किरण देसाई का पहला उपन्यास 'हल्लाबालू इन ग्वावा आर्चर्ड' भारतीय गांव की ही कहानी है। विरक्ति के बाद एक आदमी पेड़ पर रहने की सोचता है। अज्ञेय ने अपने अंतिम दिनों में पेड़ पर घर बनाने की कल्पना की थी जो एक तरह की मुक्ति होती। लोककथा की मिथकीयता में संभव वृत्तांत। सोलह साल की साईं की कथा है – 'द इनहेरिटेन्स ऑफ लॉस'। अवकाश प्राप्त जज के घर में नातिन साईं के साथ रसोइया, कुत्ता हैं। रसोइया का बेटा अवैध तरीके से अमेरिका में जॉब की कल्पना करता है। वह आंदोलनकर्मियों के हाथ लगता है। कहां तो कलिम्पोंग का देसज राग है, कहां अमेरिका का साम्राज्यवादी तेवर। आतंकवाद और साम्राज्यवाद अभिन्न जान पड़ते हैं। आलोचकों का अनुमान है कि यह कहानी अस्सी के बीच की दिखती हो पर है, '11 सितंबर 2001 के बाद की दुनिया की जब ट्रेड सेंटर पर हमला हुआ और अमेरिका ने दूसरे देशों से कहा – वे चुन लें कि वे हमारे साथ हैं या नहीं।

'द इनहेरिटेंस ऑफ लॉस' की कहानी जिस

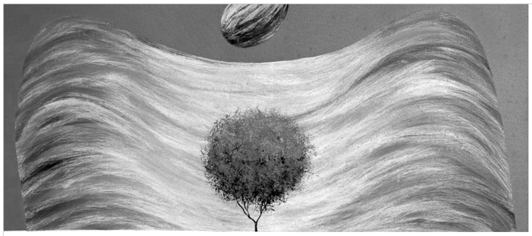

जे. स्वामीनाथन की एक कलाकृति

अवकाशप्राप्त जज के इर्द-गिर्द घटित होती है, वे एक रहमदिल नेक इन्सान हैं। कथा में डकैती, पुलिस तंत्र, अपराधीकरण, स्त्रियों का पहनावा, गियाना, त्रिनिदाद, सिंगापुर, दुबई, कुवैत, पाकिस्तान, अमेरिका, फ्रेंच समाज, पारसी रेस्त्रां, ख्रुश्चेव, कश्मीर, स्पुतनिक - सभी कथा में अंतर्गुंफित हैं। रात होती है तो मौत की कानाफूसी साईं को साफ सुनाई पड़ती है। नसें कांपती-धड़कती हैं। उधर शहर है तो बत्ती गुल है। लालटेनों का समय है। जंगल की ध्वनियां प्रकृति का पता देती हैं।

फ्रांस की क्रांति और रूसी क्रांति की समानताएं हैं तो असमानताएं भी हैं। सलिम अली का पक्षी-विमर्श, चीन विरोधी गतिविधियां। बीबीसी पर पियाली बनर्जी समाचार वाचिका हैं। भारत को डूबता जहाज बताया जा रहा है। इतालवी रेस्त्रां में काम करने का बीजू का दूसरा साल है। दीवानी लड़कियां। तंजानियां, अमिताभ बच्चन, हेमा मालिनी, सोमवार, बुधवार, शुक्रवार। यह कोलाज सलमान रूश्दी की याद दिलाता है। किसी को पता नहीं होता कि कलिम्पोंग में कौन जासूस है। लासा की सुंदरियां बाध्य थीं कि वे प्रशासकों के प्रति समर्पित हों। खाने-पीने की तकलीफ भी हो सकती थी। बाजार कभी भी खाली हो सकता था। एक लेखक अतीत में धंसा हो या वर्तमान में, उसे औपनिवेशिक न्यूरोसिस से छुटकारा नहीं। प्रशासनिक सेवा का भारतीयकरण होने लगा था।

घर में साईं का हमउम्र कोई न था। उसे बुजुर्गों के बीच रहना था। कहें तो एक रसोइया ही था जो तमाम तरह की बातें कर सकता था। गांव, पत्नी की मृत्यु और बहुत कुछ। स्त्रीविहीन घर कैसा हो सकता था। नोनी और साईं सहेलियां हो सकती थीं। नोनी को प्यार का एहसास न था। ज्ञान साईं का नया ट्यूटर था। यह एक नया अनुभव था। साईं आइने के सामने थी। ज्ञान नजदीक ही था। वह दूसरी ओर देखता रहता जब साईं अपने को आईने में देख रही होती। कलिम्पोंग में हड़ताल, धरना, रास्ता रोको का सिलसिला जारी था। कभी अवकाश प्राप्त बूढ़े जज से ज्ञान को असुविधा होती।

कभी अकेले में ज्ञान और साईं ने स्पर्श का अर्थ जाना। तब बारिश हो रही थी। साईं के मुलायम हाथ, उंगलियां, बाल, आंखों की चमक। बड़ी भीगी आंखें। भाषा गायब थी। वे निकट थे। आखिर वे और निकट आए। यह चुम्बनों की बारिश थी। ज्ञान को लगा कि वे देश में थे पर देश कहां था। किरण देसाई एक वृत्तांत को खंड-खंड रचती हैं। ज्ञान साईं कूटभाषा में किशमिश-काजू की तरह थे। ज्ञान के पास दो सौ साल पुराना इतिहास था। क्रिसमस मनाने पर ज्ञान को एतराज था। साईं इसे अपना धर्म मानती थी। उधर जेमुभाई पटेल का विवाह। साईं से ज्ञान का टकराव क्रिसमस मनाने पर जारी था। फिर चुम्बन ही विकल्प था। एक किसी के लिए विदेश-यात्रा का योग था। कहीं सेना शाकाहारी थी, भिक्षु मांसाहारी।

पर्यटक शायद आखिरी बार आ रहे हैं। यहां ऐसी अशांति है कि बाजार कभी बंद हो सकता है। गोरों के प्रति जनता में गुस्सा है। वर्तमान अतीत को बदल सकता है। राष्ट्रीय सुरक्षा जरूरी है। नेपाली मुश्किल पैदा कर रहे हैं। गोरखलैंड के लिए कैलेंडर कैसेट बिक रहे हैं।

साईं ने धोखा किया। प्यार का नाटक था। ज्ञान ने वही किया। साईं के घर डकैतों को भेजा। वह पुलिस को बताएगी। क्या भारत-नेपाल मैत्री कां अंत होने को था। कलिम्पोंग जाने के रास्ते बंद होते जा रहे हैं। क्या ज्ञान साईं के लिए चित्रित था। कंचनजंघा की चोटियां सुनहरी दिख रही थीं। यह है कथा का अंत। अंतहीन कथा का अंत। एक औपनिवेशिक समय का मार्मिक वृत्तांत। धर्म, जाति, राष्ट्रीयता के विवादों से ऊपर उठने की कोशिश। पहाड़ी प्रदेश। ऋतुएं। एक अंतरराष्ट्रीय विमर्श। आर्थिक असमानता। धर्मांधता। क्षेत्रवाद। एक अंधेरे समय का सामना। किरण देसाई कलिम्पोंग के बहाने भारतीय आत्मा को समझना चाहती हैं। कलिम्पोंग गोरखा समाज के लिए धड़कता दिल था। अंधेरे समय का विनोद वृत्तांत। किरण देसाई ने उपन्यास को आत्मकथात्मक बना दिया है। ढीले-ढाले रूपबंध में उपन्यास का विखंडन शिल्प से अधिक सार्थक है। किरण देसााई की कवि-दृष्टि उपन्यास को एक प्रकार का आंतरिक पाठ बनाने में सक्षम है।

किरण देसाई ने पहले उपन्यास 'हल्ला बोल इन द ग्वावा आर्चर्ड' से अलग इस उपन्यास में सनक से अधिक त्रासदी के विमर्श को महत्व दिया है। किरण देसाई भारतीय समय में प्रवेश करती हैं। हर चरित्र में कई तरह की टूट-फूट दिखायी देती है। अवकाश प्राप्त जज को हिंसक होना पड़ता है। साईं ज्ञान के अपने अंतर्विरोध हैं। महान अमेरिकी सपना फार्स में बदल जाता है। स्थानीयता-क्षेत्रवाद के अपने भीतरी घमासान हैं। किरण देसाई को लगता है एक आंचलिक आख्यान लिखते-लिखते वे आपबीती लिखने लगती हैं। छोटे सुख का बयान पहले विनोदपूर्ण उपन्यास में भी था- यहां भी क्षुद्र मामूली खुशी महान लग सकती है। देश के भीतर बाहर के सीमांत 'द इनहेरिटेंन्स ऑफलॉस' में एक दूसरे को अतिव्याप्त करते हैं। प्रयोग के लिए प्रयोग

किरण देसाई के पात्र या तो निर्वासित हैं या सनक से भरे। या दोनों। दो दुनिया के बीच का चुनाव कठिन है। पूर्व और पश्चिम में एक को चुनना कठिन है। किरण देसाई का लचीला गद्य इस पाठ को मार्मिक बनाता है। आप्रवासी का वृत्तांत बनते हुए यह राजनीतिक उपन्यास नहीं बन पाता। आकांक्षा या आत्मबोध पात्रों में विरल है। कोमलता और भय का बोध एक साथ एक तरह की तल्खी पैदा करता है।

न हो पर यह उपन्यास एकरेखीयता को अतिक्रांत करता है। भारत की मिथकीयता भी एक तरह का यथार्थ है। उपन्यास विस्थापन का आख्यान है तो पुनर्वास का भी। क्या यह भी कौतुकपूर्ण ढंग से घर-वापसी है। किरण देसाई का उपन्यास 'द इनहेरिटेन्स ऑफ लॉस' वैश्वीकरण के बरक्स आंचलिक को प्रतिष्ठा देता है। आतंकवाद का गढ़ इन्हीं गुमनाम इलाकों में है। यहां न्याय असंभावना है। आत्मदाह है। घुटन है। दुनिया को समझने का मनोविज्ञान एक जटिल प्रसंग है। विरल संवेदनशीलता प्रेम के अध्यात्म की समझ किरण देसाई का सर्जनात्मक विवेक है। हटिंग्टन की सभ्यता-संघर्ष की सैद्धांतिकी इस उपन्यास के केंद्रीय विमर्श को ग्राह्य बनाती है। सिक्किम, भूटान, चाय बागान, दार्जिलिंग, कलिम्पोंग उपन्यास में ऐसे आते हैं जैसे एक कार्निवाल में अलग-अलग चमकते हों। धूसरता भी साफ चमकती है। जटिल यथार्थ की बहुध्वन्यात्मकता मामूली प्रसंगों में भी छिपी नहीं है।

प्रसंगवश, याद करना दिलचस्प जान पड़ता है कि किरण देसाई के पहले उपन्यास 'हल्ला बोल इन द ग्वावा आर्चर्ड' को पढ़ते हुए किसी को आर के लक्ष्मण के मालगुडी डेज' की याद आयी, किसी को अरुंधती राय के उपन्यास 'गॉड ऑफ स्मॉल थिंग्स' की। किरण देसाई को सलमान रूश्दी ने भी संभावनापूर्ण लेखिका बताया। कथा-उपकथा का शिल्प यहां भी है और 'द इनहेरिटेन्स ऑफ लॉस' में भी। एक तरह का वायवीयपन दूसरे उपन्यास में मूर्तता पा लेता है। अमेरिकी वर्चस्व पर व्यंग्य संकेत है कि सीमांतों का विद्रोह होता क्या है। कलिम्पोंग हाशिए पर है पर है पर अपनी पहचान बनाए हुए है। पहले उपन्यास का असंगत सुस्त चरित्र पेड़ पर घर बनाना चाहता है। यहां दूसरे उपन्यास में कलिम्पोंग के लोग देश को घर मानते हैं और कोई भी कुर्बानी देश के लिए दे सकते हैं। यह सच्चे अर्थ में घर-वापसी है।

किरण देसाई को पता है कि वैश्वीकृत समय में राष्ट्रों के बीच दूरी बनी रहे, यही उचित है। तीसरी दुनिया का भेद यहीं छिपा है। अफ्रीका है तो उसकी अपनी अलग नियति है। कई देश द्वीप की तरह अलग-थलग बने रहते हैं। पड़ोसी देशों के संबंध

अनिश्चित बने रहते हैं। देश के भीतर कई देश रहते हैं जैसे संस्कृति के बीच संस्कृतियां रहती हैं। आधुनिक-उत्तर आधुनिक होने की होड़ में यह अलगाव होना है। हर किसी को अमेरिका रास आता है, जिसकी अपनी संस्कृति नहीं। बांग्लादेश इसी समय में बना है। एक विभाजन दिखता है तो कई नहीं दिखते हैं।

'द इनहेरिटेंस ऑफ लॉस' पर विचार करते हुए कथाकार पंकज मिश्र को लगता है कि यहां तमाम चीजें एक साथ हैं जैसे तात्विक और मूलभूत विमर्श, आतंकवाद, वैश्वीकरण। यह उपन्यास 1980 के आसपास के समय का वृत्तांत है। अतीतबोध के साथ उत्तर औपनिवेशिकता भी। किरण देसाई बहुसांस्कृतिक चेतना और पश्चिमी उपभोगवाद के प्रति संदेहशील हैं। कई पात्र जड़ों से विच्छिन्न हैं। आधुनिकता भी उनके लिए अधम कोटि की चीज है। किरण देसाई की ताकत है नैतिक विवेक, कोमल और भयानक का साहचर्य और तनाव। एक ओर आर्थिक वैश्वीकरण है, दूसरी ओर भीषण गरीबी है।

किरण देसाई के पात्र या तो निर्वासित हैं या सनक से भरे। या दोनों। दो दुनिया के बीच का चुनाव कठिन है। पूर्व और पश्चिम में एक को चुनना कठिन है। किरण देसाई का लचीला गद्य इस पाठ को मार्मिक बनाता है। आप्रवासी का वृत्तांत बनते हुए यह राजनीतिक उपन्यास नहीं बन पाता। आकांक्षा या आत्मबोध पात्रों में विरल है। कोमलता और भय का बोध एक साथ एक तरह की तल्खी पैदा करता है।

किरण देसाई के चरित्र संकट से बच नहीं पाते। मुक्ति उनके लिए भ्रामक शब्द है। विकास या मुक्ति की संभावना क्षीण है। खुशी के क्षण कम हैं, कॉमिक तत्व के बावजूद। जादुई यथार्थवाद किसी भी रूप में किरण देसाई के काम नहीं आता। चरित्रों में से एक ही स्वर फूटता है – मैं कौन हूं! या मैं कहां हूं!

'द इनहेरिटेन्स ऑफ लॉस' की लेखिका किरण देसाई को यह पता है कि उपन्यास का अंत कैसे होना चाहिए। बड़े लेखक भी यहां चूक जाते हैं। एक तरह की कोमलता या गरमाई किरण देसाई को एक अर्थ में तलस्पर्शी बनाती है। राष्ट्र के भीतर राष्ट्र एक ऐसा विमर्श है जो कलिम्पोंग के बहाने भारत को जानने का अवसर देता है। हिंसा या आतंक को बौद्धिकों के विमर्श तक सीमित नहीं मानना चाहिए। यहां हिंसा आतंक के बीच भी जीवनीशक्ति खास चीज है। वही उम्मीद के विरुद्ध उम्मीद कही जा सकती है। ✱

निवेदन

'पुस्तक-वार्ता' के समीक्षकों से निवेदन है कि पुस्तक की समीक्षा भेजते समय ठीक से पुस्तक का ब्यौरा दें। यथा - पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशन का पूरा पता, पुस्तक का मुल्य, सजिल्द/अजिल्द संस्करण का ब्यौरा। समीक्षित पुस्तकों के मुखपृष्ठ को भी स्कैन करके भेजे।

विशेष :

- टाईप किया हुआ मैटर शिवा मीडियम में या कृतिदेव 10 में ही भेजें तो हमें सुविधा रहेगी।

■ ईमेल ■

shubhshubh2012@gmail.com

- डाक से भेजने की स्थिति में स्पीड पोस्ट या रजिस्टर्ड डाक से ही निम्न पते पर भेजें-

■

संपादक, 'पुस्तक वार्ता',महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा -442005 (महाराष्ट्र)

समीक्षा

कृष्ण कथा-विचार कथा

■ **चन्द्रदेव यादव**
प्राध्यापक एवं आलोचक

संपर्क : हिंदी विभाग
जामिया मिल्लिया
इस्लामिया, नयी दिल्ली-
110025

हिंदी प्रदेशों में अक्सर लोग कहते हुए मिल जाते हैं- 'भीलन लूटी गोपिका वै अर्जुन वै बान। मनुस बली नहिं होत है समय होत बलवान।।' वास्तव में मनुष्य का बल, पौरुष और ऐश्वर्य कुछ समय के लिए होता है। जीवन के आखिरी पड़ाव में वह चाहकर भी अपनी शक्तियों का इच्छानुरूप प्रयोग नहीं कर पाता अथवा उनके रहते हुए भी वह असहाय हो जाता है। कुछ इसी तरह की बातें 'उपसंहार' के वासुदेव कृष्ण की भी हैं। अपने सारथी दारुक से उन्होंने कहा था- '... ऐश्वर्य की भी एक मियाद होती है और वह पूरी हो गई। और वह कब पूरी हुई मुझे पता ही नहीं चला। प्रत्येक मनुष्य कभी न कभी कुछ ही पलों या क्षणों के लिए ही सही, किसी न किसी का ईश्वर हुआ करता है। आखिर ईश्वर है क्या? मनुष्य के श्रेष्ठतम का प्रकाश ही तो? और यह प्रकाश प्रत्येक मनुष्य के भीतर होता है। लेकिन फूटता तभी है जब किसी को कातर, बेबस, निरुपाय और प्रताड़ित देखता है। मैं भी था ईश्वर। हां, मेरी अवधि किन्हीं कारणों से थोड़ी लंबी खिंच गई रही होगी।' (उपसंहार, पृष्ठ : 50)

महाभारत युद्ध के बाद से लेकर प्रभास क्षेत्र में यादवों के आपस में कट-मर जाने तक कृष्ण लगातार क्षीणबल, क्षीणप्रभ और असहाय होते गए। और तो और वे खुद के बेटों और पोते को भी नहीं बचा पाए और अंतत: जरा नाम के ब्याध के हाथों मारे गए। तो क्या कृष्ण भी भीष्म, द्रोण, अर्जुन, कर्ण या दूसरे अन्य असाधारण मनुष्यों की तरह एक असाधारण मनुष्य थे, जिन्हें दान-दक्षिणाकामी ब्राह्मणों तथा ऋषियों-मुनियों ने ईश्वर बना दिया अथवा वे सचमुच में ईश्वर थे जो धर्म की स्थापना और सज्जनों की रक्षा तथा दुष्टों एवं अधर्म के विनाश के लिए धरती पर अवतरित हुए थे? इस या इस तरह के अनेक प्रश्नों से जूझते हुए काशीनाथ सिंह ने 'उपसंहार' उपन्यास की रचना की है।

वरिष्ठ कथाकार काशीनाथ सिंह के नए उपन्यास 'उपसंहार' में उत्तर महाभारत के कृष्ण का आख्यान है। इस कथा की सामान्य जानकारी सभी भारतीयों को है, लेकिन कृष्ण से संबंधित जो बातें इस उपन्यास में लिखी गई हैं उनसे बहुत कम लोग परिचित होंगे। हिन्दी पाठकों को इसमें कृष्ण से संबंधित बहुत सी जानकारियां मिलेंगी। महाभारत के बाद के प्रसंगों को लेकर हिंदी में कई रचनाएं लिखी गई हैं, जैसे- 'कुरुक्षेत्र' (रामधारी सिंह दिनकर), 'अंधायुग' (धर्मवीर भारती) और 'महाप्रस्थान' (नरेश मेहता) लेकिन इनके प्रसंग दूसरे हैं। दिनकर और भारती ने युद्ध की अनिवार्यता और व्यर्थता पर काफी लिखा है। काशीनाथ सिंह ने भी इस समस्या को उठाया है। यहां कृष्ण को इस बात का अफसोस था कि यह युद्ध नहीं होना चाहिए था। उन्हें लग रहा था कि इसमें हुए नरसंहार को रोका जा सकता था, लेकिन वे अंतत: इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि युद्ध नहीं रोका जा सकता था। युद्ध का निर्णय सही था, 'क्योंकि- राजा अंधा था- बेटा, जो भावी नरेश होने का सपना पाले था- बहरा था और मंत्रिपरिषद् गूंगी थी, क्योंकि उसके पास जीभ थी तो खड्ग और गदा की। ऐसा राज्य जरासंध के मगध से भी बुरा होता। नहीं रोका, ठीक किया।' (वही, पृष्ठ : 53) इसमें अगर थोड़ा-बहुत 'अंधायुग' की बू आ जाए तो अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि कोई भी रचनाकार धृतराष्ट्र जैसे अंधे राजा की धर्म, नीति, न्याय के प्रति अंधता को जायज नहीं ठहरा सकता लेकिन इस उपन्यास में न तो धृतराष्ट्र, गांधारी और अश्वत्थामा का प्रतिरोध है और न ही युयुत्सु की मानसिक पीड़ा और न ही भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को दिया गया लंबा उपदेश है। इसमें है कृष्ण के लोकोत्तर रूप के साथ-साथ उनका मानवीय रूप जहां वे अपनों के ताने-तिश्ने और उलाहने झेलते हैं।

वे कृष्ण, जिन्होंने यादवों की रक्षा के लिए द्वारका बसाई थी, अंतत: वे उस द्वारका का अंत देखते हैं। वे महसूस करते हैं कि जो प्राकृतिक शक्तियां उनके आगे नतमस्तक थीं, अब वे उनकी अवहेलना करने लगी हैं। वह सुदर्शन चक्र जिसे परशुराम ने उन्हें दिया था मानवों की रक्षा के लिए, उसने भी उनका साथ छोड़ दिया। कृष्ण के सामने अनेक समस्याएं थीं। जिंदगी भर आसुरी शक्तियों और निरंकुश राजतंत्र के विरुद्ध संघर्ष करने वाले कृष्ण का एक सपना था कि भारत में गणराज्य स्थापित हो और कम से कम द्वारका में वे इसे कायम भी कर चुके थे किंतु महाभारत के बाद स्वयं यादव कुलों

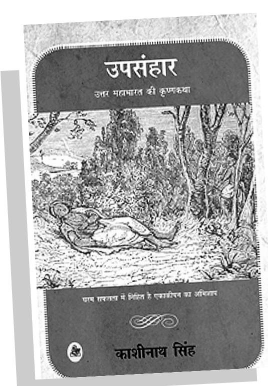

पुस्तकः उपसंहार
लेखकः काशीनाथ सिंह
प्रकाशकः राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली-110002
प्रकाशन वर्षः 2014
मूल्यः ₹250

में कृष्ण को लेकर रोष उत्पन्न हो गया। उनकी रानियों के मन में भी तरह-तरह के प्रश्न थे। दूसरे यादव युवकों की तरह कृष्ण के बेटे भी स्वच्छंद और निरंकुश होते जा रहे थे। अनाचार, व्यभिचार, मदिरापान, बड़ों की अवहेलना करना आम बात हो गई थी। अपहरण और बलात्कार की घटना भी हुई और इस तरह कृष्ण का सपना पूरा नहीं हो सका और द्वारका उजड़ गई।

कुछ समय द्वारका में शराब पर पाबंदी भी लगाई गई थी लेकिन कालभैरव के रुष्ट होने के बाद द्वारकावासियों ने राजाज्ञा का उल्लंघन करना शुरू किया। ऐसा नहीं था कि यादव मदिरापान नहीं करते थे। माघ ने 'शिशुपाल वध' में लिखा है कि राजसूय यज्ञ में शामिल होने के लिए यादवी सेना भी गई थी। रास्ते में रैवतक पर्वत पर यादवों ने जमकर मदिरापान और यादवांगनाओं का भोग किया। लेकिन उपसंहार में अपहरण और बलात्कार को रोकने के लिए मदिरा उतारने और पीने पर पाबंदी लगाई गई थी, जबकि वास्तविकता यह है कि कभी-कभी कृष्ण भी मदिरापान कर लेते थे।

उपन्यास के अंत में लेखक ने बारह रचनाकारों के प्रति आभार व्यक्त किया है। इनमें से अधिकांश रचनाएं महाभारत के बाद की कृष्णकथा से संबंधित हैं। जाहिर है उपसंहार की कथा का ताना-बाना इन्हीं रचनाओं के आधार पर बुना गया है। लेकिन यह बुनावट अपने आप में बिल्कुल नई और अनोखी है।

भारत में रामायण और महाभारत उपजीव्य ग्रंथ माने जाते हैं। भारत की सभी भाषाओं में साहित्य रचना के प्रमुख स्रोत यही दोनों ग्रंथ हैं। काशीनाथ सिंह ने भी महाभारत के बाद की उस कथा को इस उपन्यास का विषय बनाया है, जिस पर इससे पहले हिन्दी में कोई रचना नहीं की गई थी। इसमें उन्होंने कुछ घटनाओं में फेरबदल किया है और कहीं-कहीं लोकविश्वास को भी इसमें जगह दी है। जैसे गोकुल छोड़ने के बाद मथुरा में राधा-कृष्ण का मिलन। सूरदास ने लिखा है कि महाभारत की समाप्ति के बाद रुक्मिणी के आग्रह पर कृष्ण ने उनको राधा से मिलवाया था। किंतु यहां तो राधा मां-बाप और बरसानेवालों की जानकारी में मालिन के वेश में मथुरा गईं और उनसे कहा कि मैं आपको वह सबकुछ देना चाहती हूं जो अब तक नहीं दे पाई थी। काशीनाथ सिंह ने सूरदास के 'अतिमलीन बृषभानुकुमारी' वाले पद की व्यंजना को नकार दिया है, हालांकि भागवतपुराण के अनुसार यह सब संभव ही नहीं था क्योंकि मथुरा जाते वक्त कृष्ण की उम्र ११ वर्ष की थी।

बहरहाल, 'उपसंहार' के कृष्ण ने राधा से गोकुल में मिलने का वादा तो कर लिया, लेकिन मिले नहीं। इसी तरह काल भैरव के प्रसंग में उन्होंने इसमें एक लोकविश्वास को शामिल कर लिया है कि एक औरत काले लिबास और डरावनी सूरत में सभी घरों में ताक-झांक करती है और हर सधवा से उसका सुहाग मांगती है। उन्हीं दिनों द्वारका में दो-चार जवान लड़कों की मौत हो गई जिसे लेकर अफवाह उड़ी कि वह चुड़ैल आधी रात को अप्सरा बनकर आती है और मर्द के शरीर में गुह-गोबर का उबटन लगाकर उसके साथ संभोग करती है और उसका खून चूसकर उसे मार डालती है।

'उपसंहार' में उत्तर महाभारत के कृष्ण का आख्यान है। इस कथा की सामान्य जानकारी सभी भारतीयों को है, लेकिन कृष्ण से संबंधित जो बातें इस उपन्यास में लिखी गई हैं उनसे बहुत कम लोग परिचित होंगे। हिन्दी पाठकों को इसमें कृष्ण से संबंधित बहुत सी जानकारियां मिलेंगी।

प्रश्न उठता है कि कृष्ण थे क्या? कंस और नरकासुर जैसे शक्तिशाली असुरों का संहार करने वाले, जरासंध को भीम से मरवाने वाले, शिशुपाल को सुदर्शन चक्र से मारकर अपनी प्रभुता दिखाने वाले या नटखट, क्रीड़ाप्रिय, प्रेमी और रोटी-नमक-प्याज लेकर गायें चराने जाने वाले? या इनसे अलग वे एक अभिनेता और रणनीतिकार थे जिन्होंने निहत्था रहकर अठारह दिनों तक महाभारत युद्ध का संचालन किया। काशीनाथ सिंह ने चरवाहा, किशन, कान्हा कहे जाने वाले कृष्ण के केशव, जनार्दन और वासुदेव होने की कहानी को बहुत तार्किक ढंग से पेश किया है। शिशुपाल का वध जिस अस्त्र से किया गया वह अलौकिक था। राजसूय यज्ञ में उपस्थित सभी राजाओं के सामने उन्होंने उसका प्रयोग करके सबको विस्मय विमुग्ध कर दिया। इस तरह वे अवतारी पुरुष माने जाने लगे। उन्होंने रुक्मिणी का हरण इसलिए किया कि शापित यदु के वंशजों को कोई क्षत्रिय अपनी बेटी के स्वयंवर में आमंत्रित ही नहीं करता था। विदर्भ नरेश भीष्मक ने शूरसेन नरेश को यादव समझकर आमंत्रित नहीं किया। कृष्ण ने क्षत्रियोचित रीति से रुक्मिणी का हरण करके यह साबित कर दिया कि वे किसी क्षत्रिय से कम नहीं हैं। उन्होंने धनाढ्य, बलशाली, लंठ, हेकड़, झगड़ालू और उग्र यादवों की एक संगठित सेना तैयार की। उन्होंने हर युद्ध में नए-नए कौशल सीखे, उसकी तरह-तरह की विधियां जानीं- शत्रु से बचने और शत्रु को खत्म करने की। और इन सबका लाभ उन्हें महाभारत में मिला। इसीलिए उन्होंने अपने धनुष, कौमोदकी गदा, नन्दक खड्ग, सुदर्शन चक्र, गरुड़ध्वज रथ और सारथी दारुक के बिना सिर्फ पांचजन्य शंख लेकर सामान्य और अलौकिक अस्त्रों के बीच निहत्थे अविचल, अविकल और निर्भय होकर युद्ध का संचालन किया और विजय के लिए कूटनीति का प्रयोग किया। लेकिन कृष्ण का एक मानवीय रूप यह भी था कि वे रात में वेश बदलकर दारुक, सात्यकि, नचिकेता, कृतवर्मा और दूसरे योद्धाओं को साथ लेकर नारायणी सेना के मारे गए जवानों को

ढूंढ़कर लाते और उनकी चिताएं सजाते। कृष्ण को युद्ध में दुर्योधन की यह कुटिल चाल समझ में आ गई कि उसने अर्जुन के सामने नारायणी सेना को क्यों कर दिया! कृष्ण कुछ नहीं कर सके और एक-एक कर नारायणी सेना के सभी योद्धा मारे गए। कृष्ण की इस नीति को लेकर यादवों के अठारह कुलों में असंतोष और रोष व्याप गया और उन्होंने कहना शुरू कर दिया कि कृष्ण ने अपने अस्सी बेटों को युद्ध में क्यों नहीं भेजा? महाभारत के बाद द्वारका के यादवों के मोहल्ले में मातम छा गया क्योंकि उनके घर के योद्धा वापस ही नहीं आए। उन्हें लग रहा था कि उनके साथ धोखा हुआ है। वे पछता रहे थे कि उन्होंने गोकुल को क्यों छोड़ दिया! संभवत: कृष्ण ने ईश्वर बनने के लिए यह सब किया। यह द्वारका की प्रजा, खासतौर से यादवों का कृष्ण के प्रति सहज रोष था।

कृष्ण से नाराज तो बलराम भी थे। बलराम को भी कृष्ण के निर्णयों से असहमति थी। महाभारत से पहले 'सुधर्मा' की आखिरी सभा में द्वारकावासियों ने कृष्ण और बलराम के बीच मतभेद को देखा था। महाभारत के बाद अकाल, महामारी और अव्यवस्था के बावजूद युधिष्ठिर की निष्क्रियता पर भी बलराम ने उंगली उठाई थी। स्वयं भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ने भी युधिष्ठिर की प्रत्यक्ष आलोचना की थी। कृष्ण ने आखिर सोचा कि दुर्योधन में क्या बुराई थी? उनका झगड़ा तो विराट की गायों को लेकर शुरू हुआ था। प्रजा को तो कोई कष्ट नहीं था। हां, दुर्योधन में अहंमन्यता थी। उसे तोड़ना जरूरी था। कृष्ण ने वर्ण-जाति में बंटे समाज को मनुष्यता का पाठ पढ़ाने के लिए वह सब किया जो उन्हें उचित लगा। उन्होंने बलराम से कहा कि 'दाऊ, यादव, ग्वाला, चरवाहा, रासरचैया, बंसीबजैया सुनते-सुनते थक चुका था। तभी मैंने तय किया कि जब मैं गौवें चरा सकता हूं तो इन पशु जैसे लोगों को क्यों नहीं?' वे वासुदेव या ईश्वर इसलिए होना चाहते थे क्योंकि उसका कोई वर्ण या गोत्र नहीं होता। और कोई भी व्यक्ति जीतने के लिए लड़ता है, हारने के लिए नहीं। और विजय गांडीव से नहीं मिलती, मिलती है रणनीति से।

प्रश्न उठता है कि क्या कृष्ण ने यह सब अपने लिए किया? उपन्यास में इसका उत्तर है- हां। कृष्ण ने यादवों के क्षत्रियत्व को पुन: प्रतिष्ठित करने के लिए, अपने चरवाहा और ग्वाले रूप को लोकोत्तर और अजेय बनाने के लिए, द्वारका को श्रेष्ठ संपन्न गणराज्य बनाने के लिए और यादवों की रक्षा के लिए ऐसा किया। इसके लिए कृष्ण को रणनीति और कूट बुद्धि का सहारा लेना पड़ा, जो युद्ध में जायज है।

काशीनाथ सिंह ने 'काशी का अस्सी' से लेकर अब तक कई तरह के प्रयोग किए हैं। 'महुआचरित' में उन्होंने गद्य और पद्य को मिलाकर उपन्यास का एक रसमय रूप गढ़ने की कोशिश की। उसी की फलश्रुति है 'उपसंहार', जिसमें अनेक प्रकरण सिर्फ कविता में लिखे गए हैं।

मानवता की रक्षा के लिए उन्होंने वह सब किया जो एक मनुष्य कर सकता है। इसीलिए उन्होंने प्राग्ज्योतिषपुर से नरकासुर को मारकर उसकी कैद से सोलह हजार युवतियों को मुक्त कराया और उन्हें द्वारका में स्वतंत्र नागरिक की हैसियत से रखा। उनमें अपने नाम का मंगलसूत्र बंटवाया। बाद में इसी को लेकर कहा जाने लगा कि कृष्ण के सोलह हजार रानियां थीं। लेकिन वे स्वतंत्र थीं, हालांकि उनके कारण द्वारका के युवक बहकने लगे। वे कहते थे कि अगर वे कामेच्छा से हमारा संसर्ग चाहती हैं तो किसी को क्या आपत्ति? यही नहीं, सत्यभामा का बेटा भद्रकार उनमें से तीन को लेकर भाग गया। सत्यभामा की दृष्टि उन स्त्रियों के प्रति क्या थी, देखिए- 'तुमने प्राग्ज्योतिषपुर से लाकर सोलह हजार रंडियों की जो बस्ती बसाई है उन्हीं में से तीन छोकरियों को लेकर भाग गया है।' (पृष्ठ : 82) इसीलिए अपने निर्णयों पर उन्हें पुनर्विचार करना पड़ा। उन्हें दु:स्वप्न भी आते रहे। कभी कर्ण, कभी दुर्योधन तो कभी जयद्रथ कृष्ण के धर्मयुद्ध पर प्रश्नचिह्न लगाते थे।

द्वारका बिखरने लगी। 'द्वारका जो एक बंद मुट्ठी की तरह थी, बंधी हुई, कसी हुई, तनी हुई। अब खुल गई है और उंगलियां अलग-अलग दिखाई पड़ने लगी हैं।' (पृष्ठ : 41) कृष्ण से उनकी रानियों और बेटों को तरह-तरह की शिकायतें थीं और वृष्णि, भोज, यदु, सात्वत आदि अठारह कुल के लोगों की अपनी समस्याएं और शिकायतें। कृष्ण का पुत्र चारुदेष्ण युवराज बनने का सपना देखने लगा था। कृतवर्मा द्वारा बलराम के बेटे निशठ का नाम लेने पर वह भड़क गया और उसने कृतवर्मा को चांटा मार दिया। इस प्रसंग में हम महाभारत की पुनरावृत्ति की आशंका देख सकते हैं। दुर्योधन भी तो युधिष्ठिर के युवराज बनाए जाने के विरुद्ध था। धीरे-धीरे कृष्ण लाचार हो गए। यहां तक कि कृष्ण और रुक्मिणी को दुर्वासा के क्रोध का सामना करना पड़ा। दुर्योधन की बेटी लक्षणा, जो बलराम के बेटे से ब्याही थी, महाभारत में अपने परिवार के समूल नाश के बाद कृष्ण का घर छोड़कर चली गई।

महाभारत के छत्तीस वर्ष बाद एक बार फिर ग्रहों, नक्षत्रों की वैसी ही स्थितियां बनने लगीं जैसी उसके प्रारंभ होने के वक्त बनी थीं। कुलगुरु गार्ग्यमुनि ने बताया कि द्वारका के बुरे दिन आनेवाले हैं। कलिकाल इंतजार कर रहा है। कृष्ण ने देखा कि जिस नैतिकता, मूल्यों, अनुशासन, प्रेम, सौहार्द आदि के लिए द्वारका की ख्याति रही है, वही आज संकट में है। द्वारका के युवक और उनके बेटे कृष्ण के कर्मयोग की जगह 'भोग-योग' को महत्व देने लगे हैं। जाम्बवती के बेटे साम्ब ने स्वांग रचकर कश्यप, विश्वामित्र, नारद और कृष्ण की जो परीक्षा ली, उसके और गांधारी के शाप के कारण स्थितियां प्रतिकूल होते देख कृष्ण द्वारका के सभी पुरुषों को प्रभास क्षेत्र ले गए जहां होली

अर्पिता सिंह की एक कलाकृति

खेलते हुए मदिरा के नशे में एक-दूसरे पर सरपत से वार करने लगे। उग्रसेन-अक्रूर एक-दूसरे के हाथों मारे गए, कृतवर्मा को सात्यकि ने मार डाला। प्रद्युम्न घायल हो कर मर गया। बेटे और पोते की मृत्यु के बाद कृष्ण उत्तेजित हो गए। वृद्ध हो चुके कृष्ण ने उसी उत्तेजना में सबका संहार कर डाला। उन्होंने दारुक को हस्तिनापुर भेजा कि जाकर अर्जुन से कहो कि स्त्रियों-बच्चों को यहां से ले जाएं। बलराम ने जल समाधि ले ली।

और अंतत: जरा ने उसी शापित सरपत के बाण से कृष्ण को मृग समझकर मारा। मरणासन्न कृष्ण पूर्व स्मृतियों में खो गए। राधा को याद करते हुए उनके मुंह से आह निकली। यहां काशीनाथ सिंह ने एक रहस्य का उद्घाटन किया है कि जरा नामक निषाद भी यादव था। वह कृष्ण का भाई था। वसुदेव जब द्वारका के जंगलों में शिकार खेलने जाया करते थे उसी समय जरा की मां से उनका संबंध हुआ था। यानी कृष्ण की मृत्यु भी यादव के हाथों हुई। जबकि धर्मवीर भारती ने लिखा है कि अश्वत्थामा ने जिस वृद्ध ब्राह्मण को मारा था वही जरा होकर पैदा हुआ और उसने कृष्ण को मारा। पौराणिक कथाओं का पुनर्सृजन करते वक्त कभी-कभी ऐसे मतान्तर देखने को मिल जाते हैं। काशीनाथ सिंह ने जरा की जो कहानी बताई है, वह अधिक स्वाभाविक है। मरते वक्त कृष्ण को इतना संतोष जरूर था कि- 'मैंने तो यदुवंशियों का नाश ही कर दिया था जरा, लेकिन अब संतोष और खुशी है कि तुम बच गए।' (पृष्ठ :126) इतना कहकर कृष्ण भावुक हो गए। जरा उनके शांत, प्रसन्न, पूर्णकाम मुखमंडल को देखता रहा। उसने लकड़ियां एकत्र करके जलाया और जंगली जानवरों से बचाने के लिए उनके शव की चौकस हो कर रक्षा करने लगा। उसके कानों में एक स्वर बराबर गूंजता रहा- 'शव को बचाए रखो, सुबह तक के लिए।' और यहीं इस कथा का अंत हो जाता है। आखिर इस अंतिम वाक्य का निहितार्थ क्या है? क्या हम भारतवासी कृष्ण के दर्शन की मनोयोगपूर्वक शवसाधना कर रहे हैं? या कि क्या कृष्ण के मानवतावादी और निरंकुश राजतंत्र विरोधी गणराज्य की स्थापना का ढोल पीटते रहना चाहते हैं?

इस तरह यह उपन्यास उत्तर महाभारत की कृष्ण कथा से आगे बढ़कर आज की कथा बन जाता है, जहां नैतिकता, मूल्य, प्रेम, सौहार्द-सभी बेमानी हो गए हैं और उनकी जगह उच्छृंखलता, अनाचार, व्यभिचार और आपसी वैमनस्य बढ़ते जा रहे हैं। यह उपन्यास स्त्री-मुक्ति से भी जुड़ता नजर आता है और व्यक्ति पूजा को प्रश्नांकित करता है। और सबसे बड़ी बात यह कि क्या महाभारत जातीय वर्चस्व स्थापित करने के लिए हुआ था या कृष्ण के आत्मोन्नयन के लिए। जो भी हो, महाभारत के बाद कृष्ण ने जबर्दस्त आत्मसंघर्ष किया है। यहां आकर स्पष्ट रूप से लगने लगता है कि ईश्वर की भी मर्यादा होती है।

लगभग बीस वर्ष पूर्व एक अफ्रीकी उपन्यासकार ने अपने उपन्यास में गद्य की अनेक विधाओं का प्रयोग करके उपन्यास के शिल्प को तोड़ा था। उत्तर-आधुनिक दौर में हिंदी के अनेक उपन्यासकारों ने उपन्यास के शिल्प में प्रयोग किए। काशीनाथ सिंह ने 'काशी का अस्सी' से लेकर अब तक कई तरह के प्रयोग किए हैं। 'महुआचरित' में उन्होंने गद्य और पद्य को मिलाकर उपन्यास का एक रसमय रूप गढ़ने की कोशिश की। उसी की फलश्रुति है 'उपसंहार', जिसमें अनेक प्रकरण सिर्फ कविता में लिखे गए हैं। उन्होंने कुछ प्रकरणों की शुरुआत कविता से की है और बाद का अंश गद्य से पूरा किया है। और मजेदार बात यह है कि इससे कथा में कोई दरार नहीं आने पाई है। यह एक सिद्धहस्त कथाकार का नया औपन्यासिक शिल्पगत प्रयोग है। इससे एक बात का पता चलता है कि उपन्यासकार काशीनाथ सिंह का एक कवि व्यक्तित्व भी है, जो इन दोनों उपन्यासों में उभरकर सामने आया है। काशीनाथ सिंह ने इसमें नाटक की युक्ति का भी प्रयोग किया है। इस उपन्यास की भाषा आख्यान और उपन्यास दोनों की भाषा है। इसमें छपरना, हलकोरा, घामड़, चिरकुट, अहरा, झुल्ला, खंखड़, डफला, धूस, गझिन जैसे भोजपुरी शब्दों का बहुत सुंदर प्रयोग किया है। लेखक ने इसमें अनेक जगह कृष्ण-राधा और जरा के शब्दचित्र खींचे हैं। यह उनके भाषिक कौशल का द्योतक है। ✱

समीक्षा

इतिहास के चक्के तले कुचली गई वह क्रांति-कथा

■ **प्रियदर्शन**
वरिष्ठ आलोचक

संपर्क: ई-4, जनसत्ता सोसाइटी, सेक्टर- नौ, वसुंधरा, गाज़ियाबाद-201012 उत्तर प्रदेश

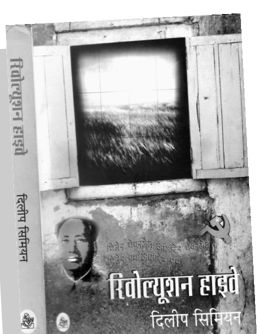

पुस्तक: रिवोल्यूशन हाइवे
लेखक: दिलीप सिमियन
प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2014
मूल्य: ₹600

वे बदलाव की उम्मीदों के दिन थे। वे बदलाव की कोशिशों के दिन थे। दुनिया भर के नौजवानों की शिराओं में जैसे एक वसंत दौड़ रहा था जो आग के फूल खिला रहा था। चीन, वियतनाम, अमेरिका, स्पेन, फ्रांस, भारत- हर जगह क्रांति जैसे एक कदम दूर थी। भारत में अतिवाम नक्सल धारा अपने समय के सत्ता-तंत्र को, विचार-तंत्र को, सुरक्षा तंत्र को और समाज तंत्र को चुनौती दे रही थी। कोलकाता से दिल्ली तक अच्छे खाते-पीते घरों के नौजवान भूमिगत होकर सर्वहारा की क्रांति के हरकारों की भूमिका में आ गए थे- वे गोली खा रहे थे, गोली मार रहे थे, हिंसा और सशस्त्र क्रांति के जरिए यथास्थिति को पलटने का एक दुर्निवार स्वप्न देख रहे थे और यह सब करते हुए एक ऐसी महाबहस में लीन थे जिसमें सब गड्डमड्ड था। पीढ़ियों के अंतराल और सरोकारों की कशमकश में फंसे उनके बेबस माता-पिता और बुज़ुर्ग रिश्तेदार पा रहे थे कि आदर्श और अराजकता के बीच, पुस्तक और पिस्तौल के बीच, सही और गलत के बीच भटकते उनके बच्चे किस भोलेपन से भारतीय राष्ट्र-राज्य से टकरा रहे हैं और कैसे उन्होंने अपना सबकुछ दांव पर लगा दिया है।

बीसवीं सदी के सातवें दशक में बहुत सारे वैचारिक आलोड़नों से गुजर रहे भारत की वह खौलती-उबलती कहानी दिलीप सिमियन ने अपने उपन्यास 'रिवोल्यूशन हाइवे' में बहुत करीने से कही है। 2010 में अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ यह मूल उपन्यास अब इसी नाम से हिंदी में आया है। दिलीप सिमियन उस आंदोलन को बहुत करीब से देखने वालों में रहे हैं और चार दशक बाद भी जब उन्होंने यह कहानी लिखी है तो उसकी गर्मी, उसका पसीना, उसके अनिश्चय, उसके इरादे त्यों के त्यों पन्नों पर उतर आए हैं। कहने की जरूरत नहीं कि यह बहुत पठनीय उपन्यास है जिसमें अध्ययन, विश्लेषण, स्मृति, वर्णन सबकुछ अपने अपेक्षित शिखर पर है। इसे पढ़ते हुए हम उन जलते हुए दिनों और दिलों की आंच और बेताबी महसूस करते हैं।

वैसे तो मूलत: यह उपन्यास बंगाल के नक्सलवादी आंदोलन पर केंद्रित है लेकिन इसके कई उपपाठ हैं जो मूल या केंद्रीय पाठ जितने ही महत्वपूर्ण हैं। एक उपपाठ उस वैश्विक बेचैनी से भी बनता है जो दूसरे विश्वयुद्ध के बाद सारी दुनिया के नौजवानों में लगभग एक तरह से भरी हुई थी और वे सब साम्राज्यवादी और पूंजीवादी सत्ताओं को हमेशा-हमेशा के लिए खत्म कर देने के महान सपने से अनुप्राणित थे। वियतनाम की चीख हिंदुस्तान तक सुनाई पड़ती थी और फ्रांस और जापान के क्रांतिकारी संगठनों की कहानियां कोलकाता के नौजवानों को प्रेरणा देती थीं। दूसरा उपपाठ हिंसा और अहिंसा के बीच की उधेड़बुन से बनता है जिसमें नक्सल आंदोलन के बीच-बीच में गांधी की छाया कौंध जाती है। तीसरा उपपाठ भारतीय राष्ट्र राज्य और उसके नागरिकों के बीच की दूरी से बनता है जिसमें गरीबी, भ्रष्टाचार और असहिष्णुता के अनेकानेक स्तर हैं और जिससे निबटना-निजात पाना किसी यक्ष-प्रश्न से कम नहीं है। चौथा उपपाठ क्रांतिकारी संगठनों के भीतर महिलाओं की स्थिति से बनता है जो या तो सहायक भूमिका में होती हैं या फिर शोषण की शिकार होती हैं। जाहिर है, पूरे भारतीय समाज में स्त्री की जो हैसियत है, वह यहां भी प्रतिबिंबित होती है।

लेकिन जो मूल कथा है, उसका द्वंद्व जो सबसे मार्मिक है और विडंबनापूर्ण भी। साठ के दशक के भारत में मार्क्सवाद की पारंपरिक लाइन एक स्तर पर सत्ता प्रतिष्ठान का हिस्सा होकर कुछ मुलायम-मद्धिम पड़ चुकी है तो दूसरे स्तर पर 1962 के युद्ध के बाद चीन और रूस की पक्षधरता के हिसाब से बंट चुकी है। इन्हीं के बीच एक तीसरी लाइन उभरती है जो माओ की लाल किताब और चीन की सांस्कृतिक क्रांति से अभिभूत है और मानती है कि क्रांतिकारी चेतना से लैस शहरी नौजवानों को गांव-देहातों के किसानों के बीच क्रांति की चेतना जगानी चाहिए, उन्हें वर्ग संघर्ष के लिए तैयार करना चाहिए, सशस्त्र प्रतिरोध के जरिए मुक्त क्षेत्र खड़े करने चाहिए और अंतत: सर्वहारा की वह सत्ता खड़ी करनी चाहिए जो श्रम और समता के मूल्यों पर आधारित

एक समाज बनाए। सीपीआई एमएल नाम की इस तीसरी पार्टी के मुखिया चारू मजूमदार बिल्कुल चे ग्वेरारा जैसे नायक हैं।

भारतीय गांव-देहातों की भयावह गरीबी और गलाजत और उसके प्रति भारतीय राजनीतिक तंत्र के असंवेदनशील रवैये से यह तीसरी लाइन अपने लिए तर्क और वैधता हासिल करती है। वह सबकुछ तोड़-फोड़ डालने पर आमादा है। वह पुराने मूल्यों और उनको प्रश्रय देने वाली कलाओं और उनसे जुड़े बुद्धिजीवियों को खत्म करने पर तुली है। जादवपुर विश्वविद्यालय के कुलपति गोपाल सेन की हत्या, राममोहन रॉय और ईश्वरचंद्र विद्यासागर की प्रतिमाओं का ध्वंस, अपने घर-परिवारों से विद्रोह और विश्वविद्यालय की पढ़ाई अधूरी छोड़ गांव-देहातों में काम करने का फैसला- बंगाल की फिजाओं में जैसे बारूद घुली हुई है। किताबें खोजने वाले छात्र तमंचे तलाश रहे हैं।

सवाल है, वह विद्रोह अगले कुछ सालों के भीतर बुझ क्यों गया? क्या इसलिए कि सशस्त्र क्रांति का यह रास्ता एक अव्यावहारिक रास्ता था? या इसलिए कि इसमें शामिल हुए नौजवानों की निष्ठा कच्ची थी? या इसलिए कि नौजवानों की सशस्त्र क्रांति का जवाब देने के लिए जब भारतीय राष्ट्र राज्य ने पाशविक हिंसा का सहारा लिया तो वह सबसे वजनी साबित हुई? उन दिनों सिर्फ संदेह के आधार पर घरों से निकाल कर लड़के मारे गए, उन्हें बुरी तरह यातनाएं दी गईं, उन्हें उन जुर्मों की सजा दी गई जो उन्होंने किए नहीं थे। या फिर इसलिए कि साम्यवाद और पूंजीवाद के अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक संघर्ष में बिल्कुल स्थानीय स्तर पर सबसे छोटे प्यादों की भूमिका निभा रहे इन नौजवानों को दरअसल वह जटिल हकीकत समझ में नहीं आई जिनके बीच सत्तातंत्र बनते और बदलते हैं? या वाकई बदलाव के हरावल दस्ते को ठहराव की ताकतों ने फिलहाल एक ऐतिहासिक पराजय देने में कामयाबी हासिल की और क्रांति अब भी शेष है?

उपन्यास में इन सवालों का कोई सीधा जवाब नहीं है- शायद हो भी नहीं सकता। लेकिन उपन्यास पढ़ते हुए यह खयाल जरूर आता है कि उन दिनों बड़ी तेजी से घूमता हुआ इतिहास का विराट चक्का बहुत सारी चीजों को रौंदता निकल गया। वे मुट्ठी भर से कुछ ज्यादा युवा थे और उन्होंने अपने तईं ईमानदार कोशिश की- शहरों की गंदी बस्तियों से लेकर गांवों के किसानों के यहां रहे, उन्होंने अपने आसपास को बदलना चाहा, लेकिन परिस्थितियां उनके हौसलों के मुकाबले कहीं ज्यादा जटिल और विराट निकलीं। माओ को लेकर उनका मोह और मजदूर क्रांति में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की प्रतिबद्धता को लेकर उनका भरोसा एक छलावा साबित हुए। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में चीन अपनी जरूरत के हिसाब से पाले बदलता रहा और माओ को अपना वैचारिक ईश्वर मानने वाले कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के दिल टूटते गए, आस्था टूटती गई।

यह उपन्यास बंगाल के नक्सलवादी आंदोलन पर केंद्रित है लेकिन इसके कई उपपाठ हैं जो मूल या केंद्रीय पाठ जितने ही महत्वपूर्ण हैं। एक उपपाठ उस वैश्विक बेचैनी से भी बनता है जो दूसरे विश्वयुद्ध के बाद सारी दुनिया के नौजवानों में लगभग एक तरह से भरी हुई थी और वे सब साम्राज्यवादी और पूंजीवादी सत्ताओं को हमेशा-हमेशा के लिए खत्म कर देने के महान सपने से अनुप्राणित थे। वियतनाम की चीख हिंदुस्तान तक सुनाई पड़ती थी और फ्रांस और जापान के क्रांतिकारी संगठनों की कहानियां कोलकाता के नौजवानों को प्रेरणा देती थीं।

दिलीप सिमियन लेकिन एक नतीजे पर पहुंचते हुए जरूर दिखाई पड़ते हैं। कहीं न कहीं यह लगता है कि अंततः यह क्रांति का रोमान था जो वास्तविक परिस्थितियों से टकराते ही बिखर गया। सशस्त्र क्रांति की बात करने वाले, हिंसा से राज्य सत्ता को उखाड़ फेंकने की सोचने वाले वे नौजवान थे जिन्होंने कभी हिंसा नहीं की थी या कर नहीं सकते थे। उन्हें बताया गया कि वे कामगार और किसान वर्गों को सचेत करेंगे जो हिंसा की कार्रवाई में आगे होंगे। लेकिन नौजवानों की हिंसा ने राज्यसत्ता को प्रतिहिंसा का तर्क मुहैया कराया, जिसके पास इसकी कई गुना ज्यादा ताकत और ट्रेनिंग थी। यही नहीं, राज्य अपनी पहले से चली आ रही हिंसा को इसकी मार्फत वैधता दिलाता रहा।

दूसरी बात इसी पहली बात से निकलती है- क्या हिंसा बदलाव का जायज रास्ता है? क्या वह खुद हिंसा करनेवाले को नहीं बदल डालती? उपन्यास में कई जगहों पर गांधी की छाया आती है - बहुत करुण ढंग से - उपन्यासकार कहीं कहता नहीं है लेकिन यह इशारा बेहद प्रत्यक्ष है कि रोमान और हिंसा के घालमेल से बनी क्रांति की इस अंधी गली में मनुष्यता की बात करनेवाले गांधी एक रास्ता खोज और खोल सकते हैं।

क्या यह दिलीप सिमियन का अपना मोहभंग है जो उपन्यास में माओ से गांधी तक चला आता है? उपन्यास के क्रांतिकामी चरित्रों प्रणव, मोहन, रथिन, दिव्या, शिप्रा या दूसरे लोगों के प्रति सदाशय होते हुए भी अक्सर उनके वैचारिक भोलेपन पर वे चुपके से चुटकी लेते दिखाई पड़ते हैं। इन छात्रों के बीच चल रही राजनीतिक-सामाजिक बहसें अंततः किताबी साबित होती हैं और जब वे वास्तविक कामकाज में लगे होते हैं तो उनकी सीमाएं दिखने लगती हैं। गंदी बस्तियों में शौच से लेकर

गंदगी के बीच जीने की भोली कोशिश तक ये लड़के पाते हैं कि क्रांति की परिस्थितियां निहायत कठिन हैं। इसके अलावा क्रांतिकारी नेतृत्व के अपने पाखंड, सतहीपन और संवेदनहीनता पर भी लेखक ने सटीक ढंग से उंगली रखी है। दूसरी तरफ वे जब प्रणव या मोहन के मां-पिता की बात करते हैं या फिर शिप्रा के चाचा की - यानी उस पुरानी पीढ़ी की जिसके अपने संशय और विश्वास थे - तो अचानक उनके लहजे में एक जरूरी संवेदनशीलता आ जाती है।

लेकिन यह निजी अनुभव या मोहभंग भी कम से कम वैचारिक यात्रा करता दिखाई पड़ता है। बाद के दौर में ये बचे-खुचे क्रांतिकारी किस तरह जीवन की नई दिशाओं में मुड़ गए और अतीत को कुछ अचरज के साथ याद करते हुए जीवन जीते रहे - इसकी भी झलक जहां-तहां उपन्यास में है। कुल मिलाकर यह समझ में आता है कि एक झटके में, एक चाकू, बम या बंदूक से, क्रांति का खयाल वह यूटोपिया है जो पलट कर हमारी पीठ पर पड़ता है। इसके लिए कहीं ज्यादा लंबी और सामाजिक लड़ाई लड़ने की जरूरत है। उपन्यास के शिल्प में अपनी तरह की अभिनवता है। इसकी वजह से कथासूत्र ढीला पड़ता है या फिर देर तक नजर भी नहीं आता। लेकिन वह मौजूद है और आगे-पीछे सारे सिरे जुड़ते हैं। लेखक ने स्मृति, अध्ययन, शोध सबका सहारा लिया है जिससे याद आता है कि ऐसी हिंसक और क्रांतिकारी कार्रवाइयों की अपनी एक धारा रही है जिसने बंगाल को अपनी तरह के संस्कार दिए हैं।

यह सिर्फ इत्तिफाक है कि पिछले दिनों उस नक्सलवादी दौर की छाया लिए कई उपन्यास हिंदी और अंग्रेजी में आए हैं। झुंपा लाहिड़ी के उपन्यास 'लो लैंड' की एक कथाभूमि यह आंदोलन भी है। झुंपा लाहिड़ी के नक्सली नायक उदयन को पुलिस उसके घर से निकाल कर सबकी आंखों के सामने मार देती है। दिलीप सिमियन के नायक जरूर बच जाते हैं, लेकिन उपन्यास में वर्णित उनकी एक सीधी कार्रवाई का नतीजा क्रांतिकारी प्रणव बागची के पिता रणबीर बागची को लगी गोली के रूप में सामने आता है। हिंदी की लेखिका अलका सरावगी का आनेवाला उपन्यास 'जानकीदास मैंशन' भी उन्हीं दिनों की कहानी को अलग ढंग से याद करता है। नील मुखर्जी के 'द लाइव्स ऑफ अदर्स' की भी इन दिनों खूब चर्चा है। चाहें तो याद कर सकते हैं कि हिंदी में आठवें-नवे दशक के बहुत सारे कवि और लेखक उस दौर के नक्सली आंदोलन से एक रोमानी सा प्रेम करते रहे हैं और उन्होंने कई बहुत अच्छी कविताएं लिखी हैं।

लेकिन आज इतने बरसों बाद वह दौर अचानक इतने सारे लेखकों को आखिर क्यों याद आ रहा है? क्या इसलिए कि क्रांति भले एक विस्मृत स्वप्न हो गई हो, वे हालात अब भी बचे हुए हैं जिन्होंने उन दिनों के संघर्ष को जन्म दिया था? आज यह सोच कर अजीब सा लगता है कि यह सब बस 45 बरस पहले घटा था। उन दिनों क्रांति का जो सार्वभौमिक स्वप्न था, बदलाव की उम्मीद का जो भूमंडलीय भाईचारा था, उसे आज भूमंडलीय बाजारवाद ने इस तेजी से अपदस्थ कर दिया है कि अब उस पर यकीन नहीं होता। हालांकि भूमंडलीकरण के इस दौर में माओवाद का एक लाल गलियारा अब भी खड़ा हो रहा है जिसे भारतीय सत्ता-प्रतिष्ठान देश के सामने सबसे बड़ा खतरा बताता है, लेकिन इस लाल गलियारे के पास वह बौद्धिक समर्थन नहीं है जो पहले था।

चार-पांच दशक पहले अगर क्रांति सारी दुनिया को रिझाने वाला सपना थी तो आज बाजार सारी दुनिया पर छा जाने वाली सच्चाई है। आज मध्यवर्गीय घरों के लड़के सपने नहीं देखते, महत्वाकांक्षाएं पालते हैं- अच्छी नौकरी की, विदेशों में जाकर बसने की और बेतुके राष्ट्रवादी ढंग से एक मजबूत भारत बनाने की। क्रांति अब एक भोला या पीछे छूटा खयाल भर है जिसे लोग कुछ अचरज से देखते हैं।

चार-पांच दशक पहले अगर क्रांति सारी दुनिया को रिझाने वाला सपना थी तो आज बाजार सारी दुनिया पर छा जाने वाली सच्चाई है। आज मध्यवर्गीय घरों के लड़के सपने नहीं देखते, महत्वाकांक्षाएं पालते हैं- अच्छी नौकरी की, विदेशों में जाकर बसने की और बेतुके राष्ट्रवादी ढंग से एक मजबूत भारत बनाने की। क्रांति अब एक भोला या पीछे छूटा खयाल भर है जिसे लोग कुछ अचरज से देखते हैं। लेकिन जब यह भोलापन खत्म हो गया है तो हमारे भीतर वह लोकतांत्रिक सयानापन चला आया है जिसमें बहुत गहरी और हिंसक सांप्रदायिकता, अवसरवादी जातिवाद और सबको इस्तेमाल करने वाला भूमंडलीकरण सब शामिल हैं और एक नए भारत का यूटोपिया बना रहे हैं। कहने की जरूरत नहीं कि प्रणव और मोहन ने समाजों के बीच का जो फासला देखा था, वह अब और बड़ा हो गया है और आज की तारीख में एक भारत दूसरे भारत पर शासन कर रहा है।

इस नए माहौल में दिलीप सिमियन की किताब उदास भी करती है और उम्मीद भी बंधाती है- उम्मीद बस इतनी सी कि बराबरी और इंसाफ का खयाल अब भी बचा हुआ है और देर-सबेर उसको हासिल करने के रास्ते निकलेंगे। उपन्यास का अनुवाद प्रकाश दीक्षित ने किया है और संपादन सुमन केशरी ने। निश्चय ही यह प्रवाहपूर्ण अनुवाद है और उपन्यास की जटिल संरचना के साथ बड़ी सहजता से तुकतान बिठाने में कामयाब रहा है। हालांकि कहीं-कहीं कुछ लापरवाहियां आसानी से पकड़ में आ जाती हैं। फिर भी उपन्यास का आनंद कम नहीं होता। ✱

समीक्षा

अन्हियारे तलछट में क्या चमका?

■ सत्यदेव त्रिपाठी
वरिष्ठ आलोचक

संपर्क: नीलकंठ, एन.एस. रोड नं -5. विलेपार्ले पश्चिम, मुंबई-400056

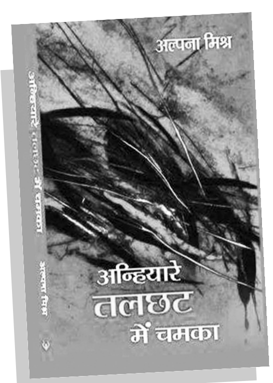

पुस्तक: अन्हियारे तलछट में चमका (उपन्यास)
लेखिका: अल्पना मिश्र
प्रकाशक: आधार प्रकाशन प्रा.लि., एस.सी.एफ. 267, सेक्टर-16, पंचकूला-134113 (हरियाणा)
प्रकाशन वर्ष: 2014,
मूल्य: ₹200

अल्पना मिश्र के उपन्यास 'अन्हियारे तलछट में चमका' को पूरा पढ़ने के बाद मन में पहला सवाल उठा कि वो क्या है, जो अन्हियारे के तलछट में चमका? और फिर दूसरा सवाल भी जुड़ गया कि वो अन्हियारा है क्या?

■ क्या जो चमका, वह नायिका बिट्टो का यह इलहाम कि हर औरत को पुरुष की गुलाम व उसके अत्याचारों का शिकार ही होना है, चाहे वह अनपढ़-गंवार हो या पढ़ी-लिखी, कमाने वाली हो या घर के चूल्हा-चौके वाली।

■ क्या यह अभिज्ञान कि दुनिया को बदलने के लिए उद्यत शिक्षित-प्रगतिशील पति शचीन्द्र हो या अनपढ़ पिता, वे सिर्फ मर्द ही होते हैं, खासकर औरतों के लिए।

■ फिर यही तो बिट्टो की मां सदा से कहती आ रही है, जो अपने गांव की पहली ग्रेजुएट व सरकारी नौकरी वाली है और वही अनुभव बिट्टो लेती है सुनियोजित रूप से युनिवर्सिटी की पढ़ाई के बाद..., तो क्या यह चमका कि मां के बाद अब तक कुछ बदला नहीं?

■ या फिर बिट्टो-कथा के अंत से यह चमका कि 'घायल की गति घायल' किंवा 'बेटी की हालत मां' ही जानती है, क्योंकि जिंदगी भर प्रताड़ना व गुलामी सहने व बेटियों को ताने देने वाली वह मां ही है, जो आकर पति-पिटी बेटी बिट्टो की अजवाइन-गरम तेल से मालिश करती है, जबकि अच्छी कमाऊ बेटी का यह शचीन्द्र नामक पति स्वचयनित भी है।

लेकिन इतना सब सहने के बाद ऐसी बिट्टो का उससे विरत होने का निर्णय यदि अन्हियारे की 'चमक' है, तो पहली शादी से भाग आने की उसकी व बहन की परम्परा क्या अन्हियारा थी? नहीं, वह अन्हियारा कैसे हो सकती है, जिसमें बिट्टो ने अपनी बड़ी बहन की शादी और उसके वहां से भाग आने तथा आने के बाद मायके के हालात ही नहीं, मां के सलूक तक देख लिये थे। तभी तो जब बहन का ही इतिहास उसके साथ भी दुहराया गया, तो उसे आइडिया आया- 'वित्तविहीन आदमी हार जाता है।' इसी कारण तो वह इरादतन औजार हासिल करती है, उच्च शिक्षा और नौकरी से आत्मनिर्भर होने का। याने वह अंधियारा नहीं, अंधेरे के बीच पहली चमक थी, वरना आज यह शचीन्द्र से विरत होने की चमक कहां से आती? उसी ने तो आइडिया भी दिया और औजार भी।

तो फिर शचीन्द्र के फालतू के देह-झिंझोड़ व लात-घूंसे आदि को इतने दिन क्यों सहती है, उसे कमाकर खिलाते होने के बावजूद? ये उस आइडिया को बेकार व औजार को भोथरा साबित कर देते हैं। एक पढ़ी-लिखी, झेली-भोगी और कुछ अपनी वाली करती तथा आर्थिक स्वातंत्र्य हासिल कर चुकी 2014 की स्त्री ऐसा क्यों करती है? क्या वही फालतू का लिजलिजा प्रेम, जिसकी कोई संगति भी अल्पना जी नहीं बना पातीं। पहले तो वह अपने बदन से ओढ़ लेता है और उस सुख में बिट्टो डूब जाती है। बाद में पता लगता है कि वह तो नपुंसक है। तो फिर डूबने-छिटकने का यह मामला क्या है। भाई या तो दीवानगी हो (अजित कौर के खानाबदोश आदि जैसी) कि जो भी है, जैसा भी है, रहना-अपनाना है या फिर इतना सारा सहने-जानने के बाद 'ठावैं देय जवाब' वाला फैसला हो।

इस लिहाज से बिट्टो की यह फिदाई बनाम रिहाई अधकचरी सिद्ध होती है, जिसमें सहवास (लिविंग रिलेशनशिप) का अकस्माती बेवजह पेबन्द भी जुडा है और एक शादी के बाद भी 'तुम पवित्र हो', कहने की छद्म प्रगतिशीलता भी। इसके साथ 1960-70 के दौर की 'चाय के प्याले में क्रांति' करने वाला शचीन्द्र-समूह भी आज गले नहीं उतरता और इन सबके अलावा शचीन्द्र से

जुड़ने की कोई वजह बनी नहीं, जो जरूरी और संगत लगती, जिससे वह फिदाई आती और उसके यह सब करने-सहने का कोई मतलब होता।

और यह तो उपन्यास है, जहां ऐसे नपुंसक को तो लात मारकर भगा देना आइडिया के रूप में भी ग्राह्य होता, लेकिन वास्तविक जीवन में एक बहुत कम पढ़ी-लिखी व कमाने वाली बलिष्ठ शरीर की ऐसी विधवा को मैं 15 सालों पहले देख चुका हूं, जो कुराड विलेज (मालाड, मुंबई) में देवर-जेठों व देवरानी-जेठानियों के अत्याचारों के खिलाफ एक दिन ब्योंडा लेकर खड़ी हुई और सबको धो डाला। उस दिन से वह नौकरी से आती, तो सारे घर से काम कराती और 'सीता और गीता' (की हेमा मालिनी) टाइप रुआब से घर में रहती। क्या नहीं लगता कि बिट्टो की सारी तैयारी व इरादा बहुत खोखला है। अतः यह सब अन्हियारे और तलछट वगैरह के लोक शब्दों की चासनी में स्टाइलिश कथा-पिरोने की चमक फिजूल ही लगती है। और जीवन ही नहीं, साहित्य को ही देख लें कि बिट्टो कहां खड़ी है। जब हिंदी उपन्यास अब से दो दशक पहले बेटे के साथ पूरे घर को छोड़ने वाली प्रिया (छिन्नमस्ता) व पति सहित पूरे गांव के सामने तनकर खड़ी होने वाली, सारी औरतों को एकजुट करके प्रधानी का चुनाव जीतने वाली सारंग नैंनी (चाक)... आदि की यात्रा कर चुका है। 'वित्त के बिना आदमी हार जाता है' जैसी घोषणा भी आज की जरूरत नहीं है। जब की थी, तब बिना ऐसा आप्त वाक्य कहे भी 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की सुषमा व 'रुकोगी नहीं राधिका' की राधिका से लेकर 'आपका बंटी' की शकुन तक सबने इसी वित्त के बल आत्मनिर्भरता की आजादी हासिल की। हिंदी में लेखिकाओं के उपन्यासों के स्त्री-विमर्श का बिस्मिल्ला ही यहीं से हुआ था, जो आज स्थापित-स्वीकृत सत्य बन गया है। बनारस में भी आज की पीढ़ी शादी से पहले ही इसके प्रति सजग हो चुकी है। सो, ऐतिहासिक दृष्टि से वह भी कोई उल्लेख्य चमक नहीं है इस उपन्यास की। अब इसके बाद अनाम बनारस में कलात्मक पेबन्दों में पिरोकर इसी सब को चमकाना औपन्यासिक आत्मरति ही लगता है।

और यह तो दोहरे कथाशिल्प वाले इस उपन्यास की छोटी वाली कथा है, जो 'आत्मकथा -1,2,3...' नाम से चलती है। ऐसे शिल्प में लिखा उपन्यास तो मुझे इस वक्त याद नहीं आ रहा, पर ऐसी कहानियां हिंदी में लिखी गयी हैं, जिनमें छोटी वाली एक प्रतीक-कथा होती थी और बड़ी वाली मूल कथा। दोनो की मूल परिघटनाएं मेल खाती थीं, पर दोनो के अंत कंट्रास्ट के माध्यम से दो युगों, दो मूल्यों की तुलना जैसे कथ्य व्यक्त करते थे। यह प्रक्रिया पुरानी फिल्मों व नौटंकियों में भी हास्य के लिए काफी चलती थी। साहित्य में कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' इसका सशक्त उदाहरण है। 'ठाकुरजी बनाम ठाकुर साहब' नाम से इसी शिल्प की एक लम्बी कहानी मैंने भी लिखी है।

पर यहां ऊपर विवेचित बिट्टो की छोटी वाली कथा ही कथ्य की दृष्टि से मूल कथा है। बड़ी वाली तो कथ्य से अधिक कथा, कथा से अधिक (अनाम शहर बनारस के) परिवेश और उससे अधिक उस परिवेश को साकार करने वाले चरित्रों की कथा है। इन दोनो कथाओं को एक साथ मिलाकर उपन्यास बना देने का मर्म कुछ खास हाथ आता नहीं, सिवाय इसके कि बिट्टो ही उस कथा से महज द्रष्टा के रूप में जुडी है, चश्मदीद-सी है। अपनी इस अल्पज्ञता को स्वीकार लेने के साथ ही मैं कारण दूंगा कि बड़ी वाले कथा व बिट्टो की गवाही से कथ्य में कोई वैविध्य या गहराई नहीं आती और इसी कारण संगति-संकेत के अभाव में कोई शिल्पगत कलात्मकता भी नहीं आती। हां, चरित्रों के एक से एक रोचक विचित्र चित्रण गंजते जाने की अनुपमता उस बड़ी वाली कथा में अवश्य है। इसके लिए यदि वह स्वतंत्र कथा के रूप में आती, तो उसकी अनुपमेयता बेहद कारगर होती। वरना दोनों पर ध्यान देने और उनकी आपसी संगति को साधने की फिराक में उसकी अपनी इयत्ता नजरअंदाज होती रहती है। उसकी नायिका सुमन उर्फ 'मुन्ना बो' के कदम उठाने के इंतजार में अवांछित देर होती है और इतने में इधर मैं (बिट्टो) कदम उठा लेती है।

इसके बाद उस इंतजार को छोड़कर हम (पाठक) बिट्टो पर ही आ जाते हैं। बाद में सुमन भी भागती है, जिसे खींच-खांचकर दोनों की संगति के रूप में देखा जा सकता है, पर तब तक उस कथा

शब्द-चित्र व दृश्य-निर्मिति तथा कथानकों-दृश्यों के यहां से वहां 'कट टु' का नाटकीय कौशल बड़ा औपन्यासिक और कलामय है। बनारस और बनारसीपने की पकड़ अद्भुत तो है ही, अभिव्यक्ति में भी कथनों में कम कथात्मकता से ज्यादा सजकर अधिक फबी भी है। अध्यायों के शीर्षक जितने स्टाइलिश हैं, काश उतने व्यंजक भी होते। इन प्रयन्नों में भाषिकता भी कमाल की है, बड़ी सफाई से लचकती-लहराती, छुपती-छकाती, नेंपती-झपट्टा मारती हुई चाल में भाषा बड़ी गझिन लगती है।

अंजलि इला मेनन की एक कलाकृति

का सारा आकर्षण खत्म हो चुका होता है। बिट्टो-कथा हावी हो गयी रहती है। फ्लैप पर से पता चलता है कि लेखिका का यह पहला ही उपन्यास है। अब तक वह मूलत: कहानीकार ही रही हैं। यदि इसमें भी उपन्यासकार बनने का मोह छोड़कर अल्पनाजी दोनों को अलग-अलग कहानी के रूप में छपा देतीं, तो लेखन ज्यादा सार्थक होता, दोनों के साथ न्याय होता और हम भी 'को बड़ छोट कहत' के 'अपराध' से बच जाते ।

शचीन्द्र का मनोविज्ञान भी है। जैसा कि डेढ़ साल विवाहित जीवन जीने वाली लड़की को सनातन पवित्र बताने की उसकी प्रगतिशीलता का जिक्र ऊपर हुआ, जो या तो छद्म है या निरी भावुकता। क्या इसी दोहरेपन ने तो उसे नपुंसक नहीं बनाया, जूठी को क्या अपनाना, का भाव भीतर और बिना कुछ किये जीवनयापन के लिए ग्रहण कर लेने का स्वार्थ। दूसरी औरत से पति के संबंध पर यदि एक औरत (अनित्य - मृदुला गर्ग) अपंग हो सकती है, तो पवित्रता की नयी परिभाषा गढ़ते हुए एक पुरुष नपुंसक क्यों नहीं हो सकता? और आगे चलकर उसकी इस ओढ़ी प्रगतिशीलता के छद्म बाहर आये ही, जब बिट्टो को सहज ही अपने पति की पुंसत्वहीनता के इलाज का विज्ञापन देखना भी शचीन्द्र बर्दाश्त नहीं कर पाता। और यदि यह विमर्श जरा भी ग्राह्य है, तो इस चरित्र से जुड़े वर्ग पर व्यंग्य की यह धार बड़ी मारक बन पड़ेगी।

शब्द-चित्र व दृश्य-निर्मिति तथा कथानकों-दृश्यों के यहां से वहां 'कट टु' का नाटकीय कौशल बड़ा औपन्यासिक और कलामय है। बनारस और बनारसीपने की पकड़ अद्‌भुत तो है ही, अभिव्यक्ति में भी कथनों में कम कथात्मकता से ज्यादा सजकर अधिक फबी भी है। अध्यायों के शीर्षक जितने स्टाइलिश हैं, काश उतने व्यंजक भी होते। इन प्रयन्नों में भाषिकता भी कमाल की है, बड़ी सफाई से लचकती-लहराती, छुपती-छकाती, नेंपती-झपट्टा मारती हुई चाल में भाषा बड़ी गझिन लगती है। परंतु आह...! 'ने' के प्रयोग का प्राथमिक दोष दर्जनों बार आकर इस सब पर पानी फेर देता है, 'एको हि दोषो गुण सन्निपाते, निमज्जितीन्दो किरणेष्विवाङ्कः' की तरह। और वह भी विश्वविद्यालय की एक प्राध्यापिका के लिए तो भयावह ही है। माना कि पूर्वी उत्तर प्रदेश व बिहार की यह सहज वृत्ति है, पर अध्यापक-लेखक का इसे न साध पाना असह्य है। ✱

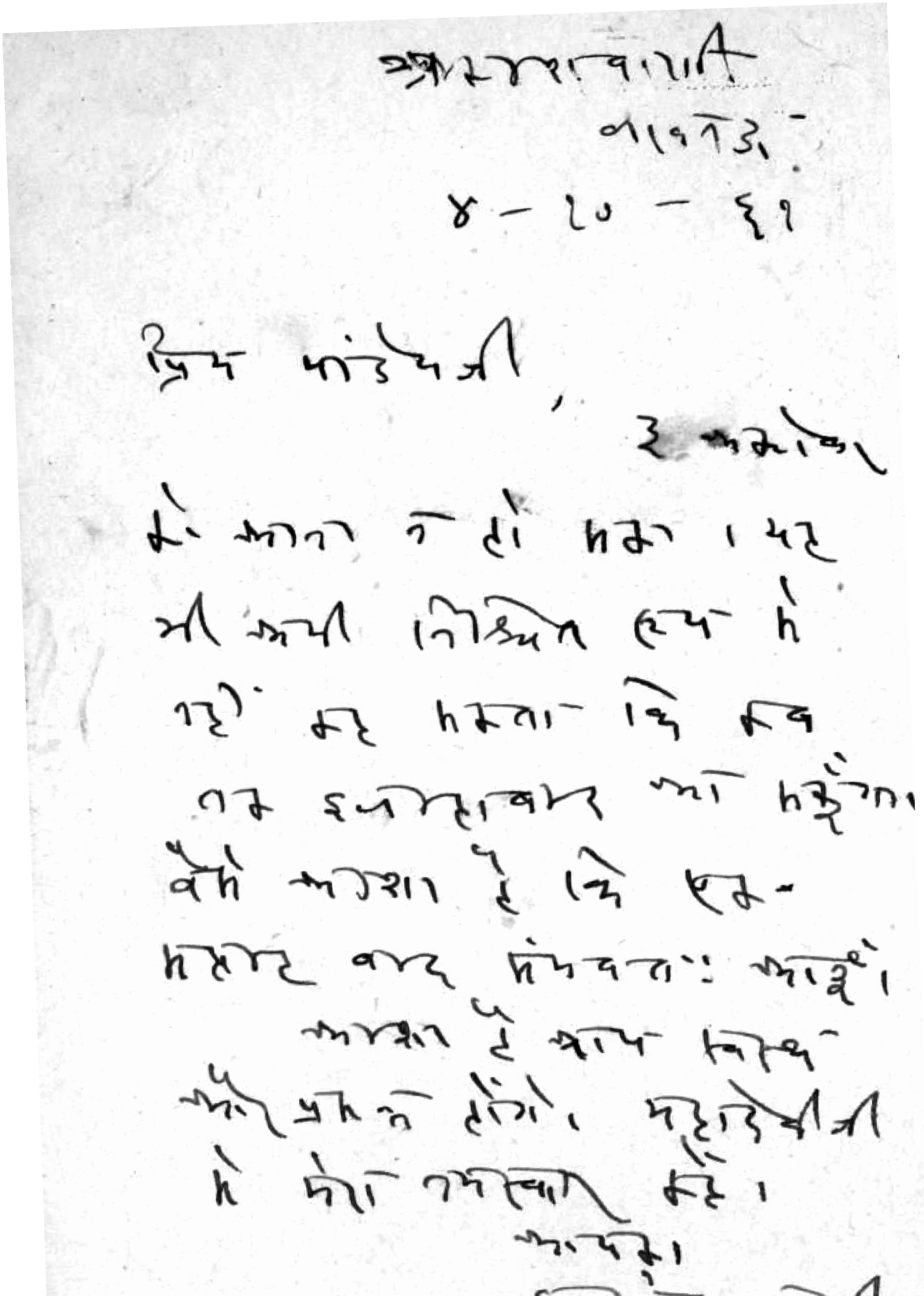

[illegible]
[illegible]
४-१०-६१

प्रिय पांडेयजी,
३ अक्टूबर में आना न हो सका। यह भी अभी निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि कब तक इलाहाबाद आ सकूँगा। वैसे आशा है कि एक-डेढ़ सप्ताह बाद संभवतः आऊँ। आशा है आप सपरिवार सकुशल होंगे। [illegible] से मेरा नमस्कार कहें।
आपका,
इलाचंद्र जोशी

श्री इलाचंद्र जोशी द्वारा श्री गंगाप्रसाद पांडेय को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

समीक्षा

भाषा की कोख से जनमी गहरी संवेदना की कहानियां

■ **शशिभूषण**
वरिष्ठ आलोचक

संपर्क: 303, गुलमोहर निकेतन, बसंत विहार, शांति निकेतन के पास, इंदौर-452010

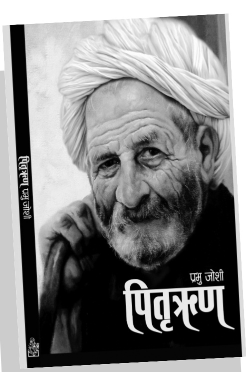

पुस्तक: पितृऋण
लेखक: प्रभु जोशी
प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नयी दिल्ली-110002
प्रकाशन वर्ष: 2014,
मूल्य: ₹200

'पितृऋण' प्रभु जोशी की कहानियों की किताब है। 'आत्मकथ्य', 'अभी तय करना है हंसना', 'किरिच', 'मोड़ पर', 'उखड़ता हुआ बरगद', 'कर्मींगाह', 'एक चुप्पी क्रॉस पर चढ़ी', 'शायद ऐसे ही' तथा 'शुरुआत से पहले' को मिलाकर कुल आठ कहानियां। ये आठ कहानियां यथार्थ और संवेदना की धरती की उपग्रह हैं। स्वायत्त कथा सृष्टि।

इस किताब को पढ़ना भारतीय मनुष्यों की बस्ती में रमकर गुजरना है। कहीं-कहीं तो ठीक वैसे जैसे इन दिनों अरुणाचल के एक कस्बे में मुझे अपनी बीती उमर पिछले जनम की बात लगती है। प्रभु जोशी के पात्रों की दुनिया इतनी विविध, बहुरंगी, स्वत:स्फूर्त तथा स्वायत्त है कि लगता है जैसे भाषा के कैमरे से कागज पर उतारा हुआ बहुत अपना देश। अपनी ही स्मृतियां, सपने और आकांक्षाएं। अपना ही जीवन और जिजीविषा।

'पितृऋण' एक सादा कहानी संग्रह है जिसमें वे सारे वैभव हैं जो किसी सच्ची किताब में होते हैं। जिन्हें चमत्कार या आश्चर्यलोक की दरकार है अच्छा है कि वे दूसरी किताब खरीद रहे हैं। कहानी की उत्कृष्टता के विज्ञापनी समय में कहानियों की यह किताब समय, समाज, मनुष्य और संवेदनाओं के प्रति हमारे ऊपर चढ़े ऋणों का पता देती है।

बहुत से समर्थ और अति प्रसिद्ध कहानीकारों के संबंध में इस किताब के बहाने एक बात दर्ज करने लायक है कि साहित्यिक सत्ताकामी उद्यमों से हमेशा दूर प्रभु जोशी जैसे कहानीकार यदि कुछ दिन के लिए भी उस फलदायिनी राह पर चल पड़ें तो उनका क्या होगा? पर नहीं, प्रभु जोशी ने सदैव खुद से मांगा जो मांगा, चाहे दृश्य-श्रव्य कार्यक्रम हों, चाहे चित्र, चाहे कहानियां या फिर सालों गूंजने वाले लेख। इस कलाकार को मिली प्रसिद्धि और अंतरराष्ट्रीय सफलता फूलों के साथ चली आती खुशबू जैसी है।

प्रभु जोशी शब्द, वचन और रंगों के सिद्धहस्त कलाकार हैं। त्रिविमीय सर्जक। भाषा, रंग, दृश्य, दर्शन, राजनीति, सपने, विचार और संवेदना ये सब जब एक जगह गलते-ढलते हैं तो प्रभु जोशी का रचनाकार प्रकट होता है।

प्रभु जोशी की कहानियों में रंग, दृश्य, संवेदना और विचार इस तरह घनीभूत होते हैं कि कोई पारखी बता सकता है कि वे अपनी कहानियों से जब विरत हुए होंगे तो उन्हें चित्रों में बदल दिया होगा। कहानियों में चित्र खींच देनेवाला यह कथाकार जब विचार की दुनिया में उतरता है तो व्यंग्यकार होता है। भाषा का साधक, द्रष्टा और चित्रकार तीनों मिलकर प्रभु जोशी का कथाकार हैं।

कथाकार से कम से कम मेरी अपेक्षा आज भी वही है कि उसके पास सच हो, दर्शन हो और अबूझ से रोज बीतते जीवन को समझ लेने, उसे पा लेने और उसके मर्म में गोते लगा लेने की कूवत हो। कहानी कौशल नहीं है। डूबते को तिनके का सहारा है। कहानी के व्यावसायिक लेखन या महज कला हो जाने से पहले के कहानीकार ऐसे ही थे। संत से, दार्शनिक जैसे और कभी कभी तो बिल्कुल दीवाने।

तकनीकी मनुष्य को चाहे जितना नया बना आयी हो पर कहानियां यही बताती हैं कि आंसू और सपनों से रचा हुआ वही है सबसे पुराना। जब किसी कथाकार में ऐसी कहानियों की धारिता दिखती है तो वह अपना लगता है। प्रभु जोशी होना नयी दुनिया में, नये लिबास में उसी पुराने मनुष्य की किस्सागोई है। यह मानुष जितना देहात का है उतना ही नगर का।

प्रभु जोशी के भीतर भारतीय कहानीकार है। कहानीकार, जिसे नगर और गांव दोनों की नब्ज पता है। उन्होंने भले कम कहानियां लिखीं, पहले खूब लिखीं, फिर बंद कर दीं, अब लिखना चाहते हैं पर नहीं लिखते। लेकिन जो लिखीं वे इतनी गाढ़ी हैं कि यदि समकालीनता या कथित प्रसिद्धि की

रोशनी से हटकर उनमें उतरा जाये तो वे एक विवेकपूर्ण दुनिया में ले जाती हैं जहां संबंध हैं, सवाल हैं तो इंसानी समाधान भी हैं।

यथार्थ प्रभु जोशी की कहानियों में वैसे ही है जैसे बकरी के थन में दूध होता है। जिन्हे दूध मोल मिलता है वे इस यथार्थ के राग को पकड़ नहीं पायेंगे।

कहानीकार की उम्र होती है। कहानियां बूढ़ी नहीं होतीं। भाषा कभी अपनी चमक नहीं खोती, यदि उसमें संवेदना हो, मर्म हो और जीवन के सच हों। भाषा के मामले में प्रभु जोशी पूरे कुम्हार हैं। दीया, घड़ा, ईंट और सुराही सबके लिए एक ही मिट्टी कैसे अलग अलग रूंधी जाती है उनसे बेहतर कौन जानता है? 'शुरुआत से पहले' कहानी को लें तो यह जितनी कहानी है उतनी ही भाषा की नदी। पात्र जिस तरह बोलते हैं उनकी निजता जिस तरह उतर आती है, जिस तरह का नैरेशन है वह बेजोड़ है। मालवी लोकोक्तियों के संबंध में यह लंबी कहानी कोश की तरह है। पेशे, सामाजिकता और जीवन सत्यों को उद्‌घाटित करते उखान यहां भरे पड़े हैं। यह मालवी में मालवी की सीमा लांघकर एक बोली को सार्थक अभिव्यक्ति का गौरव देनेवाली कथाभाषा है। जिसे आंचलिक रहकर महत्व जुटाने की फिक्र नहीं है बल्कि आंचलिकता को सर्वग्राही बनाने की साधु जिद है।

'शुरुआत से पहले' एक कुम्हार की कहानी है जो पैसे के लिए देवी की मूर्ति बनाता है। अपनी ही बनायी देवी से डरता है। एक दिन जब मूर्ति बन जाती है तो वह पाता है कि गलती से मूर्ति की पूजा हो चुकी है। पूजित मूर्ति अब कहीं नहीं जा सकती। बेची तो हरगिज न जाएगी यही प्रण कर बदरी प्रसाद अपनी जान पर खेल जाता है। अपनी ही निर्मिति पर जान देना कला के इस मूल्य के अलावा इस प्रक्रिया में जिन सामाजिक सत्यों का उद्‌घाटन हुआ है वे औपन्यासिक हैं।

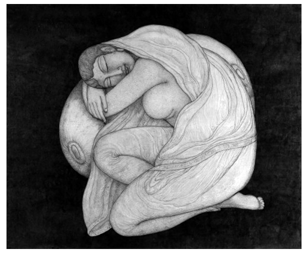

जोगेन चौधरी की एक कलाकृति

'पितृऋण' किताब की कहानियों को इस तरह पढ़ना कि ये एक कहानीकार की उसके उठान के दिनों के मील के पत्थर हैं गलत होगा। इन कहानियों को रचनाकाल से बाहर अपने समय में पढ़ना सुखद रहेगा कि ये ऐसी कहानियां वास्तव में हैं जिनमें आज गूंजता है। कल का वैभव और मुहावरा बोलता है।

'पितृऋण' संग्रह की पहली कहानी है। यह कहानी बड़ी मार्मिक है। यदि आप इसे पढ़ेंगे तो कभी भूल नहीं पायेंगे। इस कहानी में होता यह है कि एक बहुत लायक बेटा अपने लाचार वृद्ध पिता को तीर्थ कराने के बहाने गंगा ले जाता है। पिता बड़े अरमान से अपनी पत्नी की अस्थियां भी साथ रख लेता है कि सुपुत्र के बहाने आ पड़े इस नसीब में वह अभागिन भी तर जाएगी। जैसे ही पिता गंगा में डुबकी लगाते हैं बेटा उनकी खुदरा पूंजी लेकर इत्मीनान से लौट जाता है। अब नहाये हुए अशक्त किंतु कृतज्ञ पिता के पास कुछ नहीं है। अपनी स्मृति और भीख के जोड़ से बनी पूंजी से शायद पिता लौट भी न पाएगा। जिस तरह से यह कथा लिखी गयी है उसमें लोककथाओं के उस अभाव की पूर्ति भी हो जाती है जिसमें दुखियारी अधिकांशत: उपस्थित औरते होती हैं। इसमें अनुपस्थित औरत और मां जिस तरह आंखों के सामने आती है वैसा केवल लोकगीतों में ही होता है। प्रभु जोशी की यह कहानी हिंदी की धरोहर है। इस कहानी के बूते वे उस पंक्ति के कथाकार हैं जिसमें 'बूढ़ी काकी' के साथ प्रेमचंद और 'चीफ की दावत' के साथ भीष्म साहनी आते हैं।

प्रभु जोशी ने कहानियां खूब क्यों नहीं लिखीं उन्हे पढ़नेवाला यह जरूर पूछेगा पर जब वह खूब लिखने और खूब प्रसिद्धि के उद्यमों से तंग आकर शांत बैठा होगा तो उसे यह सवाल भी उतना ही कोंचेगा कि प्रभु जोशी की कहानियां पढ़ी क्यों नहीं जा रहीं? कहानियों पर एक्सपायरी डेट की चिप्पी चिपकानेवाले होते कौन हैं?

'किरिच' एक सांद्र प्रेम कहानी है। कुतुब मीनार में पहुंचने और उसके ढह जाने के प्रतीकों में जीवन भर और सबके जीवन में चलनेवाली कहानी है। यह प्रेम के उगने, उमगने और एक टीस में बदलते जाने की शाश्वत सी परिणति के उम्र भर के किस्से

को लगभग एक दिन के भ्रमण के प्लॉट में समेट लेने की सफलतम कहानी है। यदि देख पाएं तो भाषा के भीतर फिल्म।

प्रभु जोशी कहानी के भीतर फिल्मकार हैं। उनकी हर कहानी में फिल्म की संभावना है। लेकिन हमारे दौर में जिस तरह की वाचालता फिल्मों की उपजीव्य है उनके हामी शायद इन कहानियों को गले न उतार पायें।

हिदी कहानी के आंदोलन-आक्रांत दौर में विषय खोज खोजकर कहानियां लिखी गयीं। जब विषय कम पड़ गये तो आंतरिक सूखे, निर्वासन, आत्मालाप और मृत्यु जैसे विषय को भी खूब घसीटा गया। नतीजे में ऐसी चर्चित कहानियां निकली जिनके पात्र एक सी भाषा बोलते हैं, इतनी एकरूपता कि लगता है एक ही कहानी लिखने के लिए लेखकों की शिफ्ट बदल रही है। कभी कभी तो यह भी लगता है कि किसी कहानीकार का रिलीवर नहीं पहुंचा तो वही ओवर टाइम कर रहा है। ओवर टाइम कहानी लेखन के 70-80 के दौर में प्रभु जोशी ने इस इत्मीनान से कहानी लिखी कि उनकी कहानियों का किसान किसान की और मुसलमान मुसलमान की जबान बोलता है। संग्रह की कहानी 'मोड़ पर' मंटो की कहानी 'ब्लाउज' की याद दिला जाती है। किशोर मन स्त्री का संग किस तरह चाहता है और समाज उसे निरंतर कितनी वंचना में धकेलता रहता है इसे कहानी जीवंत कर देती है।

'उखड़ता हुआ बरगद' पढ़कर काशीनाथ सिंह की कहानी 'अपना रास्ता लो बाबा' याद आती है। जो 'अपना रास्ता लो बाबा' बाद में पढ़ेगा उसे 'उखड़ता हुआ बरगद' याद आएगी। कोई पाठक शायद ही ऐसा मिले जो दोनों में से किसी एक कहानी को चुनना चाहे। प्रभु जोशी के कहानीकार की यही खासियत है वे एक साथ कई कथा पीढ़ियों को अपनी निजता और अद्वितीयता में आत्मसात किये हुए हैं। लगभग सन्यस्त हो चला हिंदी का यह कथाकार जितना अपने दौर का है उतना ही हमारे दौर का है। प्रभु जोशी को पढ़ते हुए यदि कमलेश्वर याद आएं तो प्रियंवद भी जरूर याद आएंगे।

अंत में केवल यह कहना काफी होगा कि संग्रह की कहानी 'कमीगाह' जरूर पढ़ें। इस कहानी को पढ़कर ही जाना जा सकता है कि केवल परकाया प्रवेश काफी नहीं हिंदुस्तानी कथाकार में परधर्म प्रवेश कर मनुष्य को गले लगा लेने की सिद्धि भी होनी चाहिए थी। प्रभु जोशी क्या किसी कथाकार कि इससे बड़ी सफलता क्या होगी कि उससे 'पितृऋण', 'शुरुआत से पहले', 'उखड़ता बरगद' और 'कमीगाह' जैसी कहानियां केवल कुछ वर्षों में संभव हो जाएं। ✱

समीक्षा

चमकती संभावनाओं की दहलीज पर से वापसी

■ **अवनीश मिश्र**
हिंदी प्राध्यापक

संपर्क: जे-79,
पांडव नगर, दिल्ली-110092

पुस्तक: धरा अंकुराई
लेखक: असगर वजाहत
प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली,
प्रकाशन वर्ष: 2014
मूल्य: ₹400

'धरा अंकुराई' वरिष्ठ कथाकार असगर वजाहत की उपन्यास त्रयी का तीसरा और आखिरी उपन्यास है। इससे पहले इस उपन्यास त्रयी के अंतर्गत 'कैसी आगी लगाई' और 'बरखा रचाई' उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं और पाठक-आलोचक जगत द्वारा प्रशंसित भी हो चुके हैं। 'कैसी आगी लगायी' के प्राक्कथन, 'एक अनपढ़ का विलाप' में असगर वजाहत ने लिखा था, 'इन दिनों से पहले कभी यह नहीं लगा कि लिखना जरूरी है। वजह और सबसे बड़ी वजह यही है कि लेखक जो सोचता है, कहना चाहता है, उसके लिए साहित्य को छोड़कर कोई मंच नहीं बचा है।' त्रयी के तीनों उपन्यासों का जन्म इसी बेचैनी से हुआ है, लेकिन 'धरा अंकुराई' में इस बेचैनी को सबसे ज्यादा महसूस किया जा सकता है। कारण यह कि यह उपन्यास हमारे आज के समय में स्थित है। इसकी चिंताएं, इसकी समस्याएं हमारी आज की चिंताएं, आज की समस्याएं हैं। हमारा खंडित वर्तमान, इस वर्तमान को बनाने, निर्धारित करनेवाली शक्तियां और इस वर्तमान से लड़ रहा, इसके आघातों से आकार ग्रहण कर रहा जीवन इसके केंद्र में है।

'धरा अंकुराई' उपन्यास का शीर्षक एक विशाल बिंब रचता है, जिसकी अर्थ-छवियां एक साथ इतिहास में, समाज में, भूगोल में यानी 'टाइम एंड स्पेस' में खुलती हैं। धरा के अंकुराने का अर्थ क्या है? बंजर जमीन का अपनी जन्म न देने की अनिच्छा से बाहर निकलना। कोई जमीन बंजर नहीं होती। लेकिन क्या हो अगर धरती प्रतिदान देने से इनकार कर दे या प्रतिदान देने की अपनी क्षमता भूल जाए? इनसान को उस धरती को अपने श्रम-स्वेद से सींचना पड़ता है, बंजर धरती की गांठों को खोलना पड़ता है। उसे मनाना होता है। इस तरह 'धरा अंकुराई' का बिंब एक तरफ धरती के 'शस्य श्यामला' होने का बिंब है, तो साथ में मेहनतकश हाथों के निशान भी यहां हैं।

जाहिर है, इतने विराट बिंब के साथ किसी कथा में प्रवेश करना, लेखक के लिए चुनौतियां पैदा करता है। असगर वजाहत ने इस चुनौती का सामना अपनी बौद्धिकता और सरोकारों के प्रति अपनी ईमानदारी के सहारे किया है। संक्रमण के दौर में करवट बदलते भारत की दास्तां कहने की बेचैनी असगर वजाहत को 'धरा अंकुराई' के कथा-प्रदेश में लेकर आयी है। इस उपन्यास का समय उदारीकरण के बाद का भारत है। जाहिर तौर पर यह धर्म और जाति की राजनीति के ज्यादा ताकतवर होने के बाद का भी भारत है। शब्दों के मानी बचाने की जिस बेचैनी की बात असगर वजाहत ने 'कैसी आगी लगायी' के प्राक्कथन में की थी, वही इस रचनात्मक यात्रा का ईंधन है। उपन्यास त्रयी का हिस्सा होने के बावजूद यह उपन्यास अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है और इसका स्वतंत्र पाठ मुमकिन है।

एक खास लेखकीय प्रविधि के तहत असगर वजाहत अपने मुख्य पात्र को, जो कि दिल्ली के पत्रकारिता जगत का एक रोशन सितारा है, वापस अपने शहर लेकर आते हैं। एक ऐसे सामान्य से शहर में, जो ' कस्बा और शहर होने के बीच पिछले पचास साल से फंसा हुआ है। एसएस अली यानी सैयद साजिद अली 'अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया' के भाव से अपने पुराने शहर में लौटता है। वह अपने जीवन का अर्थ खोजना चाहता है। कुछ ऐसा करना चाहता है, जो उसे सार्थकता का एहसास दे।

अपनी ही गति से चल रहे इस कस्बानुमा शहर में कथा-नैरेटर के आने से एक किस्म का आलोड़न आता है। वह बदलाव के एजेंट के तौर पर शहर में दाखिल होता है। इस शहर में, जिसे वह चालीस साल पहले छोड़ चुका है, वह एक आउटसाइडर-

जे. पी. त्रिपाठी की एक कलाकृति

बाहरी की तरह है। वहां की सत्ता-संरचना में एक किस्म का व्यवधान है। एसएस अली इस शहर में चीजों को नये तरह से करना चाहता है। लेकिन, यह काम आसान नहीं है क्योंकि यह शहर अपने चरित्र में यथास्थितिवादी है। यहां एक साथ कई शक्तियां काम कर रही हैं, जो उसे उसके जैसा ही छोड़ कर लगातार अपने हिसाब से बदल रही हैं। शहर हर दिन बढ़ रहा है। भू-माफियाओं का वहां अपना राज है। उदारीकरण के बाद आयी कुरूपताओं ने इस शहर को भी अपना निशाना बनाया है। इन चीजों के साथ शाश्वत रूप से मौजूद है निष्प्रभावी सरकारी तंत्र और उसकी उदासीनता। सबसे बड़ी बात शायद यह है कि 'किसी तरह के सुधार के बारे में लोगों को कोई विश्वास नहीं है।' इस शहर में बदलाव लाने की कथा-नैरेटर की कोशिशों का जहां एक तरफ स्वागत होता है, वहीं मौजूदा सत्ता-संरचना में इसको लेकर असहजता का भाव भी उत्पन्न होता है। यह उपन्यास अपने समय के सवालों से जूझने, जवाब तलाशने, जरूरी सवाल पूछने की भंगिमा अपनाता है। जड़ता और बदलाव की शक्तियों के द्वंद्व से उपन्यास की शुरुआत में तनाव का सृजन हुआ है, जो एक तरफ रोचकता पैदा करता है, वहीं दूसरी ओर उपन्यास को संभावनाओं के अनदेखे क्षितिज की ओर भी ले जाता है।

अपने समय से टकराने के उपक्रम में असगर वजाहत ने यहां 'राग दरबारी' की शैली में की गयी टिप्पणियों का सहारा लिया है। हालांकि ये वक्तव्य उस तरह से व्यंग्यपूर्ण और चुटीले नहीं हैं, लेकिन एक बुद्धिजीवी की चिंताओं से भरे हुए हैं। इनके दायरे में अंग्रेजीपरस्त शिक्षा व्यवस्था से लेकर, नगरपालिका, पूरे देश में फैली माफिया संस्कृति, सरकार का लोप और उसकी जगह प्राइवेट का आगमन, मीडिया (स्थानीय और राष्ट्रीय) का चरित्र जैसे अनेक मसले हैं। लेखक को लगता है कि जो चीजें उसके आसपास इस देश में हो रही हैं, होती आयी हैं, उनके बारे में बोलना जरूरी है। खासकर उस हालात में जब, 'कुछ भी अपनी जगह पर नहीं है। जो है सब बिगड़ा हुआ है, टूटा हुआ है। मरम्मतों की हद से गुजर गया है और उस पर तुर्रा यह कि किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता।' यह बोलना 'फर्क' पैदा करने के लिए है।

एसएस अली इस कस्बे में नये-नये प्रयोग करता है। वह शहर मे चारों ओर फैले कूड़े को साफ करने की योजना बनाता है। यह एक प्रतीकात्मक कार्रवाई है। गांधी के नमक आंदोलन की तरह। और उसी तर्ज पर इसका विरोध भी होता है, क्योंकि अपने साधारण प्रतीक में भी यह काम सरकारी तंत्र को चुनौती देनेवाला है। सरकारी तंत्र के माथे पर इससे शिकन आती है। लेखक यह दिखाता है कि यह है भारत, जहां देश के हिंदुस्तान से 'कूड़िस्तान' में तब्दील हो जाने पर प्रशासन को कोई तकलीफ नहीं होती, लेकिन अपनी सत्ता पर पर एक छोटी सी खरोंच भी जिसे परेशान कर जाती है। एसएस अली जो करना चाहता है, उसकी राह में सिर्फ माफिया और राजनीतिज्ञ (दोनों यहां पर्यायवाची हैं) ही नहीं प्रशासन तंत्र भी खड़ा है। इनके बीच मजबूत गठजोड़ है। न्याय मिलना मुश्किल है। संचार के साधनों पर भी इनका कब्जा है। अली की हर कोशिश पर शहर के लोगों को लगता है कि कहीं इसके पीछे राजनीति तो नहीं। कस्बे के युवकों को मुफ्त अंग्रेजी पढ़ाने की शुरुआत भी ऐसा ही काम है। एक पहल के तहत शहर के बुद्धिजीवियों या संभ्रांत लोगों की एक सूची- डाइरेक्टरी बनायी जाती है। शहर का नक्शा बनाया जाता है। लेकिन अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद उसे लगता है कि सारे रास्ते बंद हैं। सत्ता ने पक्की किलेबंदी कर ली है। उसे लगातार शक की निगाहों से देखा जाता है, कुछ उसी तरह से जिस तरह से ओरहान

पामुक के उपन्यास 'स्नो' में 'का' को शक की निगाह से देखा जाता है। असगर वजाहत ने बेहद सिद्ध हाथों से कथानक के वितान में तनाव और द्वंद्व के तत्वों को मिलाया है। ऐसा लगता है कि इन प्रयोगों का क्लाइमेक्स -'ज्ञान यात्रा' के दौरान आएगा।

'ज्ञान यात्रा' और उसके सहारे सामाजिक घात-प्रतिघात का चित्रण, सत्ता, प्रशासन, माफिया और संचार माध्यमों के गठजोड़ के खिलाफ लड़ाई उपन्यास की स्वाभाविक परिणति होती। लेकिन ऐसा लगता है जैसे इस बिंदु पर आकर लेखक ने उपन्यास को अपने हाथों से फिसल जाने दिया है। 'ज्ञान यात्रा' के लिए बन रही योजनाओं के बीच उपन्यास एक व्यक्तिगत मोड़ ले लेता है और निजी संबंधों के जाल में फंस जाता है। 'हीरा' जो रेणु के 'मैला आंचल' की डॉक्टर ममता की तरह दूर से कथा में हस्तक्षेप कर रहा था, जिसकी उपस्थिति उपन्यास में चीजों को बौद्धिक नजरिये से देखने की जरूरत के हिसाब से थी, अचानक वह और नाजो से उसका प्रेम उपन्यास का केंद्रीय विषय बन जाता है। 'ज्ञान यात्रा' पृष्ठभूमि में चली जाती है।

कभी सल्लो से, जो एसएस अली के घर में काम करनेवाली नौकरानी थी, जिसके साथ उसके शारीरिक संबंध थे, वह शादी नहीं कर पाया था। क्यों? क्योंकि सामंती समाज के संस्कार उसे इसकी इजाजत नहीं देते थे। न ही, सामंती नैतिकता को बचाए रखने के लिए ही इसकी कोई जरूरत थी। उसी सल्लो की नातिन नाजो, जो हूबहू सल्लो की प्रतिरूप है, के प्रति वह खुद को शारीरिक रूप से आकर्षित पाता है। यह एक द्वंद्व की स्थिति है और कथा के विकास में इसकी मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता से इनकार नहीं किया जा सकता है। लेकिन, अली के बेटे हीरा की कथा में एंट्री, उसका नाजो के प्रति आकर्षण और आखिरकार दोनों की शादी

'धरा अंकुराई'- उपन्यास का शीर्षक एक विशाल बिंब रचता है, जिसकी अर्थ-छवियां एक साथ इतिहास में, समाज में, भूगोल में यानी 'टाइम एंड स्पेस' में खुलती हैं। धरा के अंकुराने का अर्थ क्या है? बंजर जमीन का अपनी जन्म न देने की अनिच्छा से बाहर निकलना। कोई जमीन बंजर नहीं होती। लेकिन क्या हो अगर धरती प्रतिदान देने से इनकार कर दे या प्रतिदान देने की अपनी क्षमता भूल जाए? इनसान को उस धरती को अपने श्रम-स्वेद से सींचना पड़ता है, बंजर धरती की गांठों को खोलना पड़ता है। उसे मनाना होता है।

उपन्यास की कथा की संगति में नहीं लगते। वृहत सामाजिक फलक पर अपने पट खोल रहे उपन्यास का यह अंत निराश करता है। हीरा और नाजो की शादी का संदर्भ भी सामंती समाज में आ रहे किसी बदलाव को प्रकट नहीं करता। इसे सामंती समाज की बंजर जमीन पर नये विचारों का कोंपल फूटना नहीं कहा जा सकता। हीरा लंदन स्कूल आफ इकोनॉमिक्स का शोध छात्र है। लड़कियों के साथ वह उस तरह से सहज नहीं है। उसकी मां नूर को लगता है, उसे ऐसी लड़की की जरूरत है, जो उसका खयाल रख सके। लंदन में उसकी सोसाइटी में उसे नाजो जैसी लड़की नहीं मिलेगी। असगर वजाहत स्त्री को लेकर सामंती स्टीरियोटाइप को तोड़ने में नाकाम रहे हैं। वह जैसे इस बात को नजरअंदाज कर जाते हैं कि इस सबमें नाजो का फैसला कहीं नहीं है। वह फैसला लेने लायक है ही नहीं। यह ठीक है कि उसे चमत्कारिक रूप से होनहार और हुनरमंद दिखाया गया है, लेकिन हीरा के लिए वह सिर्फ 'ऑब्जेक्ट' ही है। या फिर इतनी कम मैच्योर है, जिसे वह पूरी जिंदगी पढ़ा सके। इस पूरे रिश्ते में नाजो सिर्फ ग्रहण करनेवाली है। पुरुष से। अपने मालिकों से। उसकी जिंदगी दूसरों के फैसलों पर टिकी है। कोई उसका इस्तेमाल करके छोड़ दे, या दया करके अपना ले, दोनों में उसकी रजामंदी है। आधुनिक समाज में एक स्त्री की यह नियति आदर्श नहीं हो सकती। इसे न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।

'धरा अंकुराई' के आखिरी पन्नों तक आते-आते यह एहसास होता है कि लेखक ने कथा की मांग को स्वीकार न करते हुए, उसका अंत पूर्व निर्धारित तरीके से कर दिया है। वह यह देखने में कहीं न कहीं चूक गया है कि उपन्यास की कथा का नियंत्रण अब उसके हाथ में नहीं है और उसे पहले से सिले गये कपड़े में नहीं अंटाया जा सकता। इस उपन्यास में लेखकीय श्रम की कमी खटकती है। उपन्यास की शुरुआत में एसएस अली जिस तरह से अपने शहर में वापस लौटता है, वह एक रूमानियत से भरा कदम है और यथार्थवाद की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। यह परिस्थितिजन्य नहीं, भावुकताजन्य है। शहर में उसकी उपस्थिति एक स्टेकहोल्डर के तौर पर नहीं है। शहर की नियति से उसकी नियति नहीं बंधी है। यही कारण है कि उसके संघर्ष में यथार्थ का पुट कम है। अंत में यही कहा जा सकता है कि यह उपन्यास चमकदार संभावनाओं की दहलीज पर से वापसी के उदाहरण के तौर पर हमारे हाथ में रह जाता है। ✱

समीक्षा

अपने अपने भयों से गुजरते हुए

■ **सुरेश उनियाल**

सुप्रसिद्ध कथाकार एवं आलोचक

संपर्क: बी-8, प्रेस अपार्टमेंट, आई.पी. एक्सटेंशन, दिल्ली-110092

पुस्तक : भयकाल
लेखक : अशोक गुप्ता,
प्रकाशक: अमर सत्य प्रकाशन, प्रीत विहार, दिल्ली-110092
प्रकाशन वर्ष: 2014
मूल्य: ₹200

भय कई तरह से हमारे भीतर आता है। उसके पीछे मन के भीतर की ग्रंथियां भी हो सकती हैं और बाहर के सामाजिक कारक भी। इन्हीं तरह के दो भयों से गुजरता है अशोक गुप्ता का ताजा उपन्यास 'भयकाल'। यह मूलतः दो परिवारों की कहानी है, जानकी बल्लभ परिवार और मलकीत तनेजा परिवार।

एक रोमांटिक नोट पर कहानी शुरू होती है और हमारी मुलाकात जानकी बल्लभ और उनकी पत्नी भानुमति से होती है जो हमें किसी पहाड़ी पर बने मंदिर की ओर जाते हुए अपनी पूरी रोमांटिकता के साथ मिलते हैं। यहां कोई भय नहीं है, सिर्फ रोमांस है। इस रोमांटिक प्रकरण के बाद उपन्यास हमें एक दूसरे प्रकरण में एक पात्र 'मैं' से मिलवाता है जिसका पांचवां जन्मदिन है। वह प्यार से अपने पिता के लिए शर्बत बनाता है तो पिता पहले तो शर्बत का वह गिलास फेंक देता है और फिर खुद एक लोटा शर्बत बनाकर जबर्दस्ती बेटे को एक के बाद एक तीन गिलास शर्बत पिलाता है। डरे हुए बेटे की निकर गीली हो जाती है और बाद में उसे बुखार चढ़ जाता है। यह भय से हमारी पहली मुलाकात है। पिता और पुत्र के बीच इस प्रकरण से मतलब यही निकलता है कि बचपन में एक भय बेटे के अंदर आ जाता है जो संभव है बाद में किसी ग्रंथि के रूप में सामने आ सकता है। लेकिन आपके अनुमान को झुठलाते हुए अशोक गुप्ता आगे चलकर बात करने लगते हैं उस पिता, मलकीत तनेजा के भीतर की ग्रंथि की जिसमें उसे लगता है कि बेटे होते ही हैं पिता की सारी कमाई को अपने कब्जे में लेकर लाचार छोड़ देने के लिए। यह बात वह अपने संदर्भ में ही महसूस नहीं करता बल्कि सबसे यही कहता है कि उनके बेटे, जिनसे वे इतना प्यार करते हैं, एक दिन उनका सब कुछ हड़प लेंगे। बेटे ही नहीं, पत्नी मोहिनी को भी उनकी ज्यादतियों का सामना करना पड़ता था और यह सब बेटे के सामने होता था।

मलकीत तनेजा की नाराजगी इस बात को लेकर भी है कि उनकी इच्छा के विरुद्ध उनका बेटा आनंद बैंक के टेस्ट में पास होने के बावजूद बैंक की नौकरी करने के बजाय आगे की पढ़ाई करता है और प्रोफेसर बन जाता है। उसकी पत्नी प्रोमिला एक डॉक्टर है। उनका एक बेटा भी है, जॉली। वह परिवार का एकमात्र सदस्य है जिसकी तनेजा से कुछ बनती है।

तनेजा को इस शहर में आए पांच महीने हुए हैं। और इन पांच महीनों में शहर में उसका एक ही दोस्त बना है, जानकी बल्लभ। चाय की एक गुमटी में दोनों चाय पीने आते हैं। तनेजा को डायबिटीज और हाइपर टैंशन के कारण घर पर तो फीकी चाय ही पीने को मिलती है इसलिए वह भुनभुनाता हुआ गुमटी पर आता है और डबल मीठी स्पेशल चाय बनवाता है। उसके इस राज का पता सिर्फ उसके पोते जॉली को है। जानकी बल्लभ से इसी गुमटी पर हुई मुलाकातें दोनों के परिवारों को भी करीब लाती हैं।

यहीं से उपन्यास हमें जानकी और भानुमती की प्रेम कहानी के शुरुआती दौर में ले जाता है, जब दोनों गांव में रहते हैं। जानकी के पिता गांव के साहूकार के मुंशी थे और भानुमती, जो तब रजनीबाला थी, का पिता सरजू तेली तेल पेरने का व्यवसाय करता था। दोनों गरीब परिवार थे। पढ़ाई में तेज होने के कारण दोनों एक दूसरे के करीब आते हैं। साहूकार का बेटा नौरतन इस रिश्ते से नाखुश है। वह अपने दोस्तों सरवण, तिलक और बंसी आदि के साथ रजनीबाला को उठाकर उसके साथ सामूहिक बलात्कार करना चाहता है। जानकी के दोस्त पुतान को जब उसकी इस साजिश का पता चलता है तो वह उन दोनों के भाग जाने की व्यवस्था करता है। टेउन में उनकी मुलाकात होती है कावेरी से जो उन्हें अपने भाई के पास जाने की सलाह देती है। और इस तरह दोनों पहुंच जाते हैं सिवान। प्रधान जी उन्हें अपने स्कूल में दिन में पढ़ाने का काम सौंप देते हैं और संध्याकालीन कक्षाओं में अपनी आगे की पढ़ाई जारी रखने के लिए कहते हैं। साहूकार के बेटे नौरतन के भय का सामना अचानक उन्हें तब करना पड़ता है जब प्रधानजी बनारस में खोले अपने नए स्कूल के उद्घाटन के अवसर पर उन्हें वहां ले जाते हैं और साहूकार के बेटे के गिरोह के एक लड़के की नजर रजनीबाला पर पड़ जाने से वहीं पर उसके अपहरण की योजना भी बन जाती है। मजबूरन दोनों को बनारस ठीक से देखे बिना ही उसी समय भाग कर सिवान लौटना पड़ता है। फिर

सिवान में भी यही भय उनके सामने तब आता है जब उन्हीं में से कोई लड़का रजनीबाला को पहचान लेता है। लेकिन तब स्कूल की आया सुमित्रा उसे विश्वास दिलाती है कि वह रजनीबाला नहीं कोई और है। लेकिन फिर बच्चों के स्कूल जाने पर (दंपती के जुड़वां बच्चे थे, अमर और ब्रज) कोई अमर से पूछ लेता है कि क्या वह तेली है?

अब संकट यह था कि बच्चों को वे अपना अतीत बता नहीं सकते थे क्योंकि बच्चे अभी उस उम्र में नहीं थे कि स्थितियों की गहराई को समझ पाते। लेकिन डर यह भी था कि कल कोई और बच्चों के सामने उनका अतीत किसी गलत रूप में रखे तो उनके बाल-मन पर उसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ सकता है। यहां पर प्रधान जी एक बार फिर उन दोनों की मदद के लिए आते हैं और कन्नौज में एक कैमिस्ट की दुकान उन दोनों को चलाने के लिए सौंप देते हैं। बच्चों को बोर्डिंग स्कूल भेज दिया जाता है। साल में एकाध बार ये ही हॉस्टल में जाकर उनसे मिल आते हैं। बच्चों ने अपने घर की शक्ल तक नहीं देखी। उनके दिमाग में सवाल तो उठता ही है कि आखिर उनके मां-बाप उनसे यह दूरी क्यों बनाए हुए हैं?

जानकी-भानुमती भी इस बात को समझते हैं और अब उन्हें लगता है कि कुछ दिन के लिए बच्चों को अपने पास बुलाकर साथ रखना चाहिए। हेमराज के परिवार में उनकी पत्नी और एक बेटा पुनीत हैं। जानकी भानुमती के पुराने शुभचिंतक और एक तरह से संरक्षक प्रधानजी और कावेरी को भी इस मौके पर बुला लिया जाता है जिन्होंने दोनों बच्चों को उनके बचपन में ही देखा था।

इस मौके पर हर तरह की भय-ग्रंथियां सामने आती हैं और अंतत: हर भय को दूर करने के हालात स्वत: ही बन जाते हैं। यानी यह कथा भय ग्रंथियों के अपने चरम पर आने और अंतत: उनसे मुक्ति पाने की कथा बन जाती है। जानकी परिवार की पूरी कहानी सारी स्थितियों के बनने और उनसे मुक्ति पाने को पाठक जान लेता है लेकिन तनेजा के मामले में लेखक यह नहीं बताता कि उसके भीतर की इस भयग्रंथि का मूल कारण क्या था, जिसकी वजह से वह अपनी पत्नी और बेटे को प्रताड़ित रखते थे और बहू को भी दुश्मन मानते थे जबकि ये सब लोग उनसे बहुत प्यार करते थे और उनका पूरा खयाल रखते थे।

तनेजा के दुर्व्यवहार का शिकार बैंक में उनका पुरानी सहकर्मी हेमराज भी बना जो अब इसी शहर में है और तनेजा परिवार के साथ काफी आत्मीय है। तनेजा के उस व्यवहार को देखते हुए तो उसे एक शहर में रहते हुए भी तनेजा की शक्ल तक नहीं देखनी चाहिए थी। अपने इस तरह के व्यवहार के कारण पाठकों की भी सहानुभूति उसके प्रति नहीं हो पाती और न वह अपने पर किसी तरह का तरस खाए जाने की गुंजाइश ही छोड़ता है। फिर भी इन सब लोगों की सहानुभूति तनेजा के साथ क्यों है, यह लेखक नहीं बताता।

कुछ मामलों में पाठक जानकी वल्लभ के आचरण पर भी सवालिया निशान लगा सकते हैं। इस परिवार के भय दो स्तरों पर हैं। एक भय है कि कहीं बच्चों को अपने माता पिता के अतीत का पता न चल जाए कि वे विवाहित नहीं हैं और एक तरह से वे दोनों उनकी नाजायज संतान हैं। उन्हें डर है कि ऐसा होने पर माता पिता उनकी नजरों में गिर सकते थे। इस स्थिति का सामना करने से कतराना इसका कोई इलाज नहीं था इसलिए वे उनको घर बुलाकर पूरी स्थिति उनके सामने रखते हैं। पूरी स्थिति जानने के बाद बच्चों की तात्कालिक प्रतिक्रिया क्या थी वह बताने से अशोक गुप्ता कतरा जाते हैं और सिर्फ एक सूचना देते हुए बताते हैं कि उन्होंने इसे सहजता से लिया। और इस बात का प्रमाण है उनका बाद का व्यवहार। लेकिन बेहतर होता कि वह उस पूरी स्थिति को पाठकों के सामने लाते और यह पाठकों को तय करने देते कि उनकी प्रतिक्रिया क्या रही।

दूसरा भय है नौरतन के गुंडों का, जिनसे वे लगातार भागते रहते हैं। उनका इस तरह हर बार डरकर भागना पाठक के मन को एक राहत तो देता है लेकिन यह सवाल पाठक के मन में रह जाता है कि यदि उनका सामना हो ही जाता तो वे क्या करते?

रोमांटिकता के निरूपण में भी अशोक काफी सिद्धहस्त हैं। जानकी वल्लभ अपनी पत्नी रजनीबाला को जिस तरह मौके के हिसाब से अलग-अलग नामों से पुकारते हैं उसे देखते हुए सहज ही कहा जा सकता है, 'हाउ क्यूट!' वैसे रजनीबाला को एक नाम नौरतन और उसके गैंग ने भी दिया है, 'करिया छबीली'। अशोक के लेखन में जो बात मुझे सबसे ज्यादा पसंद है, वह है उनकी डिटेलिंग। स्थितियों को जिस बारीकी से अशोक बुनते हैं, उसकी मिसाल पिछली पीढ़ी के हृदयेश में मिलती है या फिर उनकी पीढ़ी के सुभाष पंत में। पूरी स्थिति को किसी दृश्य की तरह वह उकेर देते हैं। आप अपनी आंखों के सामने चल रही किसी फिल्म का पूरा मजा उनके विवरणों से ले सकते हैं। ✱

रोमांटिकता के निरूपण में भी अशोक काफी सिद्धहस्त हैं। जानकी वल्लभ अपनी पत्नी रजनीबाला को जिस तरह मौके के हिसाब से अलग-अलग नामों से पुकारते हैं उसे देखते हुए सहज ही कहा जा सकता है, 'हाउ क्यूट!' वैसे रजनीबाला को एक नाम नौरतन और उसके गैंग ने भी दिया है, 'करिया छबीली'। अशोक के लेखन में जो बात मुझे सबसे ज्यादा पसंद है, वह है उनकी डिटेलिंग। स्थितियों को जिस बारीकी से अशोक बुनते हैं, उसकी मिसाल पिछली पीढ़ी के हृदयेश में मिलती है या फिर उनकी पीढ़ी के सुभाष पंत में।

समीक्षा

आंखों की नमी का स्वाद देती कहानियां

■ **मनोज मोहन**
कवि एवं आलोचक

संपर्क : एल. पी- 61/बी पीतमपुरा, दिल्ली-110034

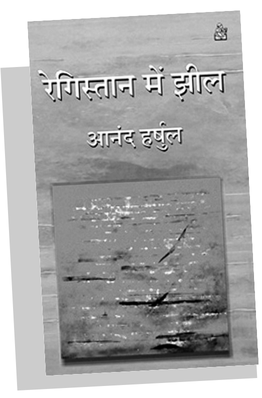

पुस्तक : रेगिस्तान में झील
लेखक : आनंद हर्षुल
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110002
प्रकाशन वर्ष : 2014
मूल्य : ₹450

'कहानी धुंधली अनुभूतियों के प्रदेश को शब्दों के आलोक में देखना है।'

निर्मल वर्मा: साहित्य का आत्मसत्य

'मेरे लिए यह पर्याप्त होगा कि यदि यह सत्य (कहानी का सत्य) मनुष्य के भीतर आने वाली अज़ीब विडंबनाओं और अंतर्द्वंद्वों से साक्षात् करवा सकें। जो अभी तक अंधेरे में छिपी थी, उन्हें अंधेरे से उजाले में लाना, चाहे उनका चेहरा जितना ही वीभत्स, भयानक या कटु क्यों न हो? यही महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है उजाले में ये मनुष्य के बिम्ब या मनुष्य के स्वरूप के बारे में कुछ ऐसा जोड़ पाता है जिसे सत्य के बारे में मनुष्य ने कभी सोचा नहीं था।'

- निर्मल वर्मा: साहित्य का आत्मसत्य

आनंद हर्षुल का नया संग्रह 'रेगिस्तान में झील' पढ़ने के बाद अचानक निर्मल वर्मा के दो उद्धरण स्मृति-पटल पर दस्तक देने लगते हैं। यह किसी भी कहानीकार के लिए सीमा और संभावनाएं दोनों एक साथ दीखती हैं। एक ऐसे वक्त में जब बाजार जीवन में सोचने के लिए अवकाश देने को राजी नहीं और अंतर्जाल तथा खबरों से प्रेरित हो लिखी गई कहानियां अपनी चमक पैदा करने में सक्षम नहीं हो पा रही हैं, तब आनंद हर्षुल की ये कहानियां राहत देती हैं।

बीसवीं सदी के ढलते वर्षों में लिखी गईं कुल उन्नीस कहानियों को संग्रहीत करते हुए आनंद हर्षुल ने संग्रह का शीर्षक दिया है 'रेगिस्तान में झील'। इसके पहले उनके तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। यहां उन्हीं प्रकाशित तीन संग्रहों में से कुछ को छोड़ते हुए और कुछ को रखते हुए उन्होंने इस संग्रह को तैयार किया है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि 2014 में प्रकाशित इस संग्रह में पिछले बारह-तेरह साल एकदम 'सूखे' के चपेट में हैं। यह 'सूखा' किस तरह का है, इसे पाठक कहानियों को पढ़ते हुए समझें। इसके बावजूद इस संग्रह की कहानियों का थोड़ा सा परिचय देने के लिए ब्लर्ब पर पांच समीक्षकों और कहानीकार मित्रों की उपस्थिति है। वरिष्ठ समीक्षक परमानंद श्रीवास्तव का कहना है कि 'आनंद हर्षुल अपने धीमे, शांत और अनोखे शिल्प से एक तरह का प्रतिवाद रचते हैं और यथार्थ तथा फंतासी के मिश्रण का एक समानांतर सौंदर्यशास्त्र रचते हैं।' हालांकि परमानंद जी जिस यथार्थ और फंतासी के मिश्रण को एक समानान्तर सौंदर्यशास्त्र कह रहे हैं वह वास्तव में हर्षुल पर जादुई यथार्थवाद का प्रभाव है। 'बैठे हुए हाथी के भीतर लड़का', 'घर गैराज से छोटा', 'उस बूढ़े आदमी के कमरे में', 'कुत्तों की मौत का दिन', 'रेगिस्तान में झील', 'बचा हुआ राजा' जैसी कहानियों का शीर्षक देखते ही समझ में आ जाता है कि लेखक मार्क्वेज और निर्मल वर्मा के प्रभाव में हैं।

संग्रह की पहली कहानी 'बैठे हुए हाथी के भीतर लड़का' जो संभवत: लेखक की पहली कहानी ही है उसमें जादुई यथार्थ का चमत्कार किस तरह पैदा किया गया है, उसकी बानगी तो देखिए- 'घर इसी खेल में हाथी हो गया। मिट्टी का घर कुछ इस बेढंगेपन से पसरा था कि उसे बैठा हुआ हाथी लगता था।' 'हाथी धीरे-धीरे मरने लगा है। उसके शरीर में जहां-तहां दरारें पड़ गई हैं...। सालों से हाथी ऐरावत नहीं हो पाया है।' इस तरह के कई उदाहरण यहां दिए जा सकते हैं। लेकिन पाठक निराश नहीं होता। उसे पढ़ने में मजा आता है क्योंकि पढ़ते हुए उसे उस अनुभव को अपने अंदर घटित होते हुए और स्वयं उससे होकर गुजरने जैसा लगता है। आज की कहानी जिस तरह से युग संदर्भित हो चली है, उसमें पाठक को कहानी से अपने को तादात्म्य कर पाने में कठिनाई होती है। वह उन कहानियों को पढ़ते हुए पाता है कि वह

अखबार के पन्नों से गुजर रहा है। यहीं हर्षुल की कहानियां राहत प्रदान करती हैं।

'उस बूढ़े आदमी के कमरे में' बच्चों और बूढ़ों के बीच बढ़ते अपरिचय और अविश्वास के माहौल को देखकर लगता है कि कहानीकार ने आज की कहानी लिखी है जबकि वास्तविकता यह है कि इन कहानियों को लिखे चौथाई दशक हो चुके हैं। 'घर गेराज से छोटा' बेबी और मुन्नी की कहानी है। बेबी संभ्रांत घर की है तो मुन्नी बेबी के ड्राइवर की बेटी है, दोनों के स्कूल पास-पास हैं। बेबी जैलाल द्वारा स्कूल कार से पहुंचाई जाती है जबकि अपने बस्ते के बोझ से दबती मुन्नी को देखने की इच्छा तक नहीं रखता जैलाल। क्योंकि उसकी भी सहज मानवीय इच्छा है कि मुन्नी को भी वह सब मिले जो उसके मालिक की बेटी होने भर से बेबी को नसीब है।

जे. पी. त्रिपाठी की एक कलाकृति

'वह पुल पर होना चाहती है और सिर्फ उड़कर वहां पहुंच सकती है, पर उसके पास पंख नहीं हैं।' ये पंक्तियां 'पुल पर बगुले' कहानी की अंतिम पंक्तियां हैं। पढ़ने का शौक रखती मौसी और पुल पर डर के बावजूद सहज आवाजाही में मशगूल लड़के के बीच कोमल तंतु से बुनी यह कहानी पित्तृसत्तात्मक परिवार की मन:स्थिति को खूबसूरत तरीके से पाठकों के सामने रखने में सक्षम है। मौसी जिसे लड़के की मां पढ़ाने की शर्त्त पर गांव से अपने साथ लेती आई थी, लेकिन वह पढ़ा नहीं पाई और अंतत: 'मौसी' उदास होती चली गई। फिर बाकी जीवन लड़के में स्वयं के उत्साह की झलक पाती।

मौसी जैसी स्थिति आज भी कई परिवारों में बच्चों की है और इस कहानी की पात्र मौसी की तरह ही भोले सवाल पूछकर अपने को और उदास कर लेने को अभिशप्त है। 'जब पढ़ा नहीं सकतीं तो क्यों लाई हैं मुझे... ?' यह सवाल आज भी अनुत्तरित है और समाज पर एक सवालिया निशान भी? आज भी हमारे समाज में लड़की की पढ़ाई का महत्त्व नहीं है।

कुत्तों की मौत का दिन उस सामाजिक यथार्थ को हमारे सामने रखता है जहां समाज का निचला तबका हर हाल में दो समय की रोटी जुटाते हुए समस्याग्रस्त रहता है। कथाकार ने यहां कुत्ते, मनुष्य और सामाजिक रूढ़ियों से कहानी का वितान रचा है जहां जानवर भी मनुष्यों की भाषा समझते हैं लेकिन अपने भोले स्वभाव के कारण मनुष्यों के चपेट में आ जाने को अभिशप्त हैं। उच्च वर्ग, निम्न वर्ग, स्त्री-पुरुष, ईश्वर-अनीश्वर का फर्क समझाती यह कहानी अपनी सहजता में पाठकों को मुग्ध करती चलती है। 'पंडित जी जब भी प्रार्थना करते तो सिर्फ अपने लिए करते थे। उनकी पत्नी प्रार्थना करती थी तो उनके लिए करती थी। ईश्वर से प्रार्थना करते हुए वे अपनी पत्नी को भूल जाते थे और उनकी पत्नी खुद को भूल जाती थी।' इन पंक्तियों के माध्यम से कहानीकार ने आज के समय-समाज के जटिलतम यथार्थ को सही परिप्रेक्ष्य में समझने की कोशिश की है।

आनंद हर्षुल की कहानियों का न यथार्थ इकहरा है और न उनकी कहानियों में पारदर्शिता की कमी। अपने सरोकारों, विचारों को पूर्वग्रह से मुक्त रखने में आनंद हर्षुल ने सफलता पाई है। अपनी कहानियों में वे विस्मय, करुणा, विडंबना, त्रासदी और मार्मिक मासूमियत के साथ जिस परिवेश का जिक्र करते हैं, उसकी तरफ आज किसी का ध्यान नहीं जाता। आज के समय की त्रासदी यह है कि व्यक्ति के 'देखने-समझने' की क्षमता को ही भोथरा करने में बाजार और उनके सहयोगी तत्व लगे हैं। जब यह कहानियां लिखी जा रही थीं तब बाजार इतना प्रबल नहीं था। मद्धिम लय में चलती ये कहानियां एकांत चिंतन की स्वाभाविक लय के खोने की शुरुआत कर चुकी थी और आनंद हर्षुल बाजार से प्रभावित रह कर उसकी वीभत्सता की आहट को पहचान रहे थे। इस कारण ये कहानियां आज भी पाठकों को एक जरूरी राहत प्रदान करती हैं। ✱

समीक्षा

आलोचनात्मक संस्मरण से गुजरते हुए

■ राजकुमार

प्राध्यापक एवं आलोचक

संपर्कः हिंदी विभाग, श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली-110032

हृदयेश मूलतः कथाकार हैं। किस्सागोई उनकी सबसे ताकतवर विशेषता है। अपनी कथात्मकता से उन्होंने साहित्यिक जगत में एक मुकाम हासिल किया है। उन्होंने जिंदगी के धड़कते बहुआयामी कोणों को अपनी रचनाओं में जगह दी है और व्यक्ति और समाज के बदलते रिश्तों को केंद्र में रखकर अपनी कथाओं को बुना है। वे महानगरों से दूर एक छोटे से शहर में अपना आशियाना बना रचनात्मकता को स्वर देते रहे हैं। बगैर शोर-शराबे, जोड़-तोड़ और खेमेबाजी के लगातार अपना साहित्यिक कर्म किए जा रहे हैं। लंबी साहित्यिक कालावधि में हृदयेश ने कई साहित्यिक, पारिवारिक संबंध बनाए हैं। नए लेखकों, आलोचकों और प्रशंसकों से अपने को जोड़ा है। उन संबंधों और जुड़ाव के खट्टे-मीठे अनुभव, उनकी जिंदगी और स्मृति में कुंडली मार कर बैठे थे, जिसे उन्होंने 'स्मृतियों का साक्ष्य' में कलमबद्ध किया है।

आमतौर पर यह देखने में आता है कि एक लेखक जब संस्मरण लिख रहा होता है तो अपनी स्मृतियों से किसी व्यक्ति, लेखक या अन्य संपर्क में आए जीवों का स्केच खींच रहा होता है। अपनी यादों की गठरी खोल उसे रचता है। हृदयेश ने बिल्कुल ही ऐसा किया है, पढ़कर महसूस नहीं होता। वे जिस भी लेखक के संपर्क में आए उसे केवल व्यक्ति के तौर पर याद नहीं किया बल्कि उसे बतौर लेखक भी याद किया। कई बार आप इस पुस्तक को पढ़ते हुए महसूस करते हैं कि हृदयेश ने संस्मरण न लिख उस लेखक पर आलोचनात्मक लेख या टिप्पणी लिखी है। 'स्मृतियों के साक्ष्य' को ठीक-ठीक संस्मरण कहने के बजाए 'आलोचनात्मक संस्मरण' कहना बेहतर होगा।

हृदयेश की 'स्मृतियों का साक्ष्य' पढ़ते ही सबसे पहले जो चीज आप को चौंकाती है, वह है भुवनेश्वर पर उनके आलेख। संस्मरण के बजाए आलेख शब्द मैं जानबूझ कर लिख रहा हूं। जब हम इस रचना से गुजरते हैं तो इसे संस्मरण की तरह नहीं बल्कि आलोचना की तरह पढ़ते हैं। यूं तो उन्होंने भूमिका में यह स्वीकार किया है कि भुवनेश्वर से मिलने का मौका कम मिला है। संस्मरणकार और भुवनेश्वर के संबंधों की तलाशी मुश्किल है। वे भुवनेश्वर का आदमकद, विचित्र और परस्पर विरोधी किस्म का अक्स अमृतलाल नागर के एक उपन्यास के एक पात्र के माध्यम से खींचते हैं। उनका मानना है कि अमृतलाल नागर ने जो विचित्र किस्म का पात्र गढ़ा है वह भुवनेश्वर ही है।

भुवनेश्वर की जो मूर्ति उन्होंने गढ़ी गई है उसमें द्वंद्वात्मकता है। उनके व्यक्तित्व के अच्छे और बुरे दोनों पहलुओं को उजागर करने की कोशिश की गई है। उनकी रचनाओं के आधार पर उनके 'नायकत्व' को स्थापित किया गया है तो जिंदगी जीने की अव्यावहारिकता के आधार पर व्यक्ति भुवनेश्वर के व्यक्तित्व को खंडित भी किया गया है। हृदयेश ने एक लेखक की रचनाओं से गुजरते हुए उस लेखक की जिंदगी को खड़ा किया है। यह विशेष बात है। 'भुवनेश्वरः आनेवाले कल का लेखक' में वे बताते हैं कि उनकी जिंदगी अंधेरे और उजाले के बीच फैली थी। उनमें महान लेखक की प्रतिभा थी लेकिन वे प्रतिभा का पाखंड भी करते थे। कारण, वे प्रतिभा को ही मूल्य मान लेते हैं। वे अपने को विशिष्ट मानते थे और कुछ भी करने के लिए अपने को स्वतंत्र समझते थे। वे गैर जिम्मेदार व्यक्ति थे और उनकी हरकतें गलत किस्म की होती थीं। वे अपनी जरूरतों को पूरी करने के लिए किसी भी तरह के हथकंडे अपना सकते थे। शॉर्टकट उनका शगल था। इस आधार पर हृदयेश मानते हैं कि 'भुवनेश्वर ने भुवनेश्वर प्रसाद को कम

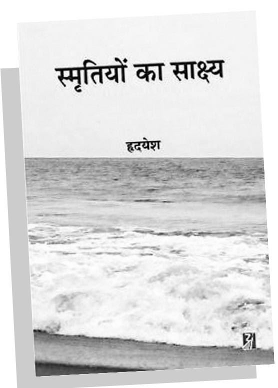

पुस्तकः स्मृतियों का साक्ष्य
लेखकः हृदयेश
प्रकाशकः अंतिका प्रकाशन, शालीमार गार्डन एक्स., गाज़ियाबाद-201005
प्रकाशन वर्षः 2014
मूल्यः ₹ 315

प्रभावित किया जबकि भुवनेश्वर प्रसाद ने भुवनेश्वर का अतिक्रमण किया'।

भुवनेश्वर की मेधा और रचना की विशिष्टताओं के आधार पर वे लिखते हैं कि भुवनेश्वर नाटकों में नवाचार के जन्मदाता हैं। स्थूल कथानकों से भरे नाटकों को वे सूक्ष्म की ओर ले गए। अभिधा से लक्षणा और व्यंजना की ओर प्रस्थान कराया। नाटक को नयी दिशा देने और उसका व्याकरण गढ़ने का काम उन्होंने किया। प्रतिभा के बगैर प्रयोगधर्मिता और अन्वेषण संभव नहीं है। वे इस बात का उल्लेख करते हैं कि 'भुवनेश्वर के नाटकों में नयापन कथावस्तु में न होकर नाटकों के प्रति उनके एटीट्यूड में है। उन्होंने वस्तु की ओर ध्यान न देकर उसकी प्रस्तुति यानी नाटक के टेक्सचर, उसकी बुनावट की ओर अधिक ध्यान दिया है'। वे मानते हैं कि भुवनेश्वर ने अपने नाटकों में 'इंटेलेक्चुअल एक्सपेरिमेंट' किया है। उनके नाटकों के संवाद के संदर्भ में लिखा है कि वे गिने-चुने शब्दों में पूरी बात कहने का चमत्कार उत्पन्न करते हैं। व्यंग्य की मार भी बहुत तीखी होती थी। वे मध्यम और उच्च वर्ग के आडंबरपूर्ण खोखले जीवन में फैले विद्रूपता को दिखाने वाले लेखक थे। हृदयेश ने भुवनेश्वर की रचनाओं की असंगति पर भी टिप्पणी की है। उनका कहना है कि वे विधा की मर्यादाओं के विरुद्ध जाते हैं। अपने नाटकों को विचारों या उक्तियों से आगे बढ़ाते हैं। कथातत्व का ह्रास नाटकों में करते हैं जबकि उसे कथामूलक होना चाहिए था। वे दुरूहता और जटिलता को ही उत्कृष्टता मानते हैं। शुक्लीय तर्क के आधार पर यह बताते हैं कि वे हृदय की जगह बुद्धि को अधिक तरजीह देते हैं। और कहते भी हैं कि उनके यहां दर्शन और विचारों की संगति का संबंध सार्थक वस्तु से कटा हुआ है।

हृदयेश भुवनेश्वर की कहानियों को भी बौद्धिक व्यायाम की संज्ञा से अभिहित करते हैं। उनकी कहानियों को सामान्य वर्ग से कटा विशिष्ट और प्रबुद्ध वर्ग के लिए लिखी गई कहानियां साबित करते हैं। लेकिन उनकी 'भेड़िये' कहानी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि अपनी प्रकृति और गठन दोनों में ही यह कहानी विस्मयकारी है। साथ ही यह भी बताते हैं कि वे अपनी मेधा का आतंक खड़ा कर दूसरे को प्रतिरक्षा की स्थिति में लाते हुए हिंस्र तृप्ति पाने वाले व्यक्ति थे। इंटेलेक्चुअल हौवा खड़ा करना उनका उद्देश्य था। यही उनकी कमजोरियां भी थीं।

हृदयेश ज्ञानरंजन पर लिखते हुए उनकी कहानियों का विवेचन-विश्लेषण करते हैं। वे लिखते हैं कि 'ज्ञान की कहानियां मध्यम वर्ग के पारिवारिक संबंधों, उसके युवा सदस्यों की आत्मकेंद्रीयता, स्खलन व पतन की निर्मम पड़ताल हैं, अपने पाठकों को एक डरावने अनुभव संसार में ले जानेवाली'। इस पूरे आलेख में लेखक ने स्वयं की रचनात्मक स्थिति, संपादन दायित्व आदि की चर्चा करते हुए ज्ञानरंजन के साथ अपने संबंधों को समेटने की कोशिश की है।

वे खुद को पहल सम्मान मिलने का उल्लेख करते हैं। साथ में यह भी बताते चलते हैं कि उनकी लेखक संगठनों से दूरी रही है फिर भी पुरस्कार मिला। हृदयेश इस बात का जिक्र कई बार करते हैं कि 'मैं साहित्य की राजनीति से दूर रहा हूं। पुरस्कारों के लिए जोड़-तोड़ नहीं करता हूं। अपने साहित्यिक कर्म में लगा रहा हूं। छोटे से कस्बे में जीवन गुजारते हुए साहित्यरत रहा हूं।' अपने संतई और साधना को एक आदर्श और मूल्य की तरह खुद ही परोसते हैं। यहां वे कई बार आत्मरति के शिकार से लगते हैं। अपनी रचनाओं की प्रशंसा खुद ही करते हैं या रचनाओं की विशिष्टताओं या संदर्भ को रेखांकित करते हैं या आलोचकों द्वारा लिखे गए प्रशंसात्मक पंक्तियों को लिखते हैं। हृदयेश को 'आत्ममुग्धता' से बचने की जरूरत है। लेकिन वे उससे बिंधे नजर आते हैं।

वे अनुमान के आधार पर इस बात का जिक्र करते हैं कि राजेन्द्र यादव व्यक्तिगत खुन्नस के कारण 'पहल' पत्रिका की तारीफ नहीं करते हैं। जबकि हृदयेश को यह जानना चाहिए कि वे महज 'पहल' ही नहीं ऐसी दर्जनों पत्रिकाओं की तारीफ नहीं करते थे। उनका कहना था कि ये पत्रिकाएं निकल तो रही हैं लेकिन किसी साहित्यिक आंदोलन को जन्म नहीं दे रही हैं। वे कहते थे कि कवर पेज हटा दीजिए, संपादक का नाम मिटा दीजिए- सभी एक जैसी लगेंगी। राजेन्द्र यादव का कहना था कि पत्रिकाओं को अपनी रचनात्मक तेवर

भुवनेश्वर की मेधा और रचना की विशिष्टताओं के आधार पर वे लिखते हैं कि भुवनेश्वर नाटकों में नवाचार के जन्मदाता हैं। स्थूल कथानकों से भरे नाटकों को वे सूक्ष्म की ओर ले गए। अभिधा से लक्षणा और व्यंजना की ओर प्रस्थान कराया। नाटक को नयी दिशा देने और उसका व्याकरण गढ़ने का काम उन्होंने किया। प्रतिभा के बगैर प्रयोगधर्मिता और अन्वेषण संभव नहीं है। वे इस बात का उल्लेख करते हैं कि 'भुवनेश्वर के नाटकों में नयापन कथावस्तु में न होकर नाटकों के प्रति उनके एटीट्यूट में है। उन्होंने वस्तु की ओर ध्यान न देकर उसकी प्रस्तुति यानी नाटक के टेक्सचर की ओर अधिक ध्यान दिया है।

जैमिनी राय की एक कलाकृति

और उपलब्धि से ही पता चलना चाहिए कि कौन सी पत्रिका है। राजेन्द्र यादव ने यह बात एक बार नहीं बल्कि कई बार अलग-अलग मंचों से कही है। ऐसा कहते हुए राजेन्द्र यादव का अहंकार नहीं बोलता था बल्कि यह सच्चाई है कि सैकड़ों हिंदी पत्रिकाएं मिलकर वह उपलब्धि हासिल नहीं कर पाईं, जो 'हंस' ने की। संभवत: वे 'हंस' को विशिष्ट स्थान दिलाने के उद्देश्य से भी ऐसा करते थे।

हृदयेश शैलेश मटियानी को याद करते हुए उनके व्यक्तित्व का ठोस मूल्यांकन करते हैं। जब उन्हें देखा तो उसका चित्र कुछ यूं खींचा- 'उनका जिस्म पर्वत-शिला जैसा शक्ति का सुपुंज दिख रहा था, ठोस और गठा हुआ। आंखों की चमक चेहरे तक छिटकी हुई थी।' उनकी स्पष्टवादिता का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि मटियानी साहित्य की महंती करने से बचते थे। वे सहज, विनयशील, आत्मीय और सदाशय व्यक्ति थे। उनकी रचनात्मकता पर गंभीर तरीके से फोकस करते हुए बताते हैं कि वे सूडो मॉडर्निज्म के बेहद खिलाफ थे और अपने देसीपन को बैकवर्डनेस नहीं मानते थे। उनमें अपनी जड़ों के प्रति रागात्मक लगाव था।

हृदयेश शैलेश मटियानी की गरीबी का जिक्र करते हुए बताते हैं कि उन्होंने जिंदगी के निम्नतम स्तर पर जीवन जीया था। शैलेश मटियानी ने अपनी जिंदगी और गरीबी के बारे में जो कुछ लिखा है उसे हृदयेश ने करीब-करीब दोहराया है। मुंबई की गरीबी और जहालत के बारे में खुद शैलेश मटियानी ने काफी कुछ लिखा है। भूखे पेट किस नारकीय जिंदगी को उन्होंने भोगा है, उसका जिक्र हृदयेश ने भी किया है। वेश्याओं की दलाली, चोर-उचक्कों के गिरोह में भागीदारी और हवालात की यातना सबका जिक्र है। साथ ही वे इस बात को रेखांकित करते हैं कि बतौर लेखक उनके पास जीवनानुभवों का विपुल भंडार था। जिसका उन्होंने अपनी रचनाओं में उपयोग भी किया है। वे लिखते हैं, 'उनके कथा-संसार में अधिकतर कोढ़ी, भिखारी, कचरा बीनने वाले, मलंग, मवाली तथा बढ़ईगीरी, लोहारी, खाट बुनने जैसे तुच्छ पेशों को चिपटाये गरीब व लाचार पात्र हैं, किंतु वे मानवीय गुणों के मामले में गरीब व तुच्छ नहीं हैं। सच तो यह है कि मुख्यधारा से कचरे की तरह बाहर किए हुए और पशु जैसा जीवन जी रहे पात्रों द्वारा उन्होंने मनुष्य की अदम्य जीजिविषा, उसके अथक जीवन संघर्ष और इंसानी रिश्तों की न ठंडी

होनेवाली गरमाहट को प्रतिष्ठा दी है'। उनकी कुछ रचनाओं को वे विश्वस्तरीय मानते हैं। उनका कहना है कि 'बुद्धि से अधिक उनके पास संघर्ष से निखरी दृष्टि थी और संवेदना से संपन्न हृदय। वे उन्हें प्रेमचंद की परंपरा के कद्दावर लेखक का दर्जा देते हैं। बौद्धिक मनवाने या विचारक होने का उनका कोई दावा नहीं था न ही वे ऐसा चाहते थे। उनकी दक्षिणपंथी विचारधारा आदि से जुड़ने की भी चर्चा करते हैं। वे पारिवारिक दबाव के कारण सत्ता प्रतिष्ठानों के आगे भी झुके लेकिन कभी इस पर पर्दा नहीं डाला। निराला के लिए दुख ही जीवन की कथा रही के तर्ज पर यह घोषणा करते हैं कि मटियानी के लिए उपेक्षा ही जीवन कथा बनी। 'अपने अपने राम' के सर्जक-लेखक-आलोचक भगवान सिंह से उनकी मुलाकात शाहजहांपुर और इलाहाबाद में हुई जिसका जिक्र उन्होंने किया है। उनकी बौद्धिक क्षमता और विद्वता की बड़ी प्रशंसा हृदयेश ने की है। साथ ही यह उम्मीद भी पाली कि भगवान सिंह उन पर लिखें। उन्होंने अपनी तमाम रचनाएं उन्हें उपलब्ध करायी लेकिन अंतत: भगवान सिंह ने उन पर लेख या उनकी रचनाओं का 'रिव्यू' भी नहीं लिखा, जिसका उन्हें बहुत मलाल है। जो थोड़ा बहुत पांच-छह सौ शब्दों में लिखा था उसे हृदयेश ने अपने इस संस्मरण में उतार दिया है। एक लेखक अपने बारे में और अपनी कृतियों के ऊपर लिखवाने के लिए कैसे छटपटाता है इसका गाहे-बगाहे जिक्र खुद हृदयेश में दिखता है। यह कामना इस संस्मरण संग्रह को कमजोर करती है। अच्छी बात यह है कि उन्होंने अपने इस लोभ और प्रशंसा की भूख को छिपाया नहीं है। मधुरेश का ज्यादातर लेखन पुस्तक समीक्षाओं का है। वे लंबी-लंबी पुस्तक समीक्षाएं लिखा करते थे। इस बात का जिक्र हृदयेश ने किया है। लेकिन उनका यह मानना कि मधुरेश की पुस्तक समीक्षाएं बहुत उम्दा थीं और सैकड़ों लोग चलताऊ समीक्षाएं करते हैं। पुस्तक समीक्षा सांस्कृतिक प्रक्रिया के अलावा पुस्तक विज्ञापन भी है। इस सच को स्वीकारने में हिंदी की भलाई ही है। यह रचना के बरक्स समांतर रचना है। अखबारी रिव्यू कहीं अधिक मुश्किल और जटिल काम है जिसमें निर्धारित शब्दों में पूरी पुस्तक को खंगालना होता है। अगर मधुरेश इस कसौटी पर अपने को नहीं उतार पाते थे तो इसका यह मतलब नहीं कि वे महान आलोचक हैं और अन्य तुच्छ। वे लंबी-लंबी समीक्षाएं लिखने के आदी थे, इसे बहुत बढ़ा-चढ़ा कर पेश करने की जरूरत नहीं है। हृदयेश इसे आलोचनात्मक दृष्टि से देखने के बजाए प्रशंसात्मक दृष्टि से देखते हैं। अगर मधुरेश को यह शिकायत थी कि उन्हें आलोचक की बजाए समीक्षक मान कर उनका अवमूल्यन किया जाता है तो इसका कोई औचित्य नहीं है। समीक्षा को जब वे खुद गलत निगाह से देखते थे तो किसी और के क्या मानने का क्या मतलब? वे औसत कद के समीक्षक थे। मधुरेश अपने व्यक्तिगत जीवन में साधारण और अस्त-व्यस्त तरीके से रहते थे। इसका जिक्र हृदयेश ने किया है। ईमानदारी और सच्चरित्रता दोनों उनमें थीं। घबराहट और संकोच भी। दोनों एक-दूसरे के प्रति अपने आत्मीय लगाव और जुड़ाव को भी महसूस करते थे।

वीरेन्द्र सक्सेना पर लिखते हुए हृदयेश इस बात को रेखांकित करते हैं कि वे शांत और गंभीर प्रकृति के व्यक्ति हैं। वे तामझाम, फैशन और आधुनिकता के नाम पर संस्कारहीनता, मुखौटावादी संस्कृति से बचे हैं। कम लिखने वाले वीरेन्द्र सक्सेना ने अपनी रचनाओं में 'काम' संबंध को केंद्रीय थीम बनाया है।

हृदयेश अपने अलीगढ़ प्रवास पर टिप्पणी करते हैं। उनकी पोती वहां रहकर पढ़ती थी। वे उसके देख-रेख के लिए वहां गए थे। फिर अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्यक्रमों और गोष्ठियों में उनका आना-जाना बना रहा। कुंवरपाल सिंह, प्रेम कुमार, अजय सिंह, नमिता सिंह, इरफान हबीब आदि से उनकी मुलाकात वहीं हुई। कई नये मित्र अलीगढ़ की उपलब्धि रहे।

से. रा. यात्री से भी अपनी अंतरगता को उद्घाटित करते हुए वे व्यक्ति और लेखक दोनों का परिचय देते हैं। लेखक के तौर पर पाते हैं कि वह लगातार क्रमिक विकास करने में असफल रहे हैं। वे 'मुर्दाफरोश' जैसी कुछ कहानियों की विशेषताएं भी रेखांकित करते हैं। साथ ही व्यक्ति के रूप में उनके फक्कड़पन और अनौपचारिक व्यक्तित्व को भी। उनके यात्री स्वभाव को बताते हैं। चूंकि से. रा. यात्री कई पुरस्कारों और हिंदी की महत्वपूर्ण संस्थाओं और हिंदी के मठाधीशों के संपर्क में रहे हैं इसलिए पुरस्कारों की राजनीति की झलक भी थोड़ी बहुत खुली है।

जब लेखक अपनी प्रशंसाओं के आगे झुकता है या प्रशंसकों के करीब आना चाहता है तो शमशेर सिंह जैसे व्यक्ति पर संस्मरण लिखता है। इसमें उन्होंने आस्ट्रेलियाई प्रशंसक शमशेर सिंह के लापरवाह, वाहियात, बोझ बने और अनगढ़ मेहमान के व्यक्तित्व को गढ़ने की कोशिश की है। इसमें हृदयेश के दुर्बलताओं का नक्शा साफ-साफ खुलता है। वे शमशेर सिंह पर लिख कर बेताल से मुक्ति पाना चाहते हैं इसलिए उनका मजाक उड़ाते हैं लेकिन उन्हें पता नहीं चलता कि उनके साथ वे अपना मजाक भी उड़ा रहे हैं। आत्म-प्रशंसा का लोभ और अपने ऊपर लिखवाने की कवायद का जिक्र जहां-जहां भी आया है, हृदयेश बिल्कुल हल्के पड़े हैं। लेकिन यह मानना शायद उचित होगा कि हर मनुष्य अपनी विशिष्टताओं और कमजोरियों का पुंज है। हृदयेश के भीतर का लेखक और उनका व्यक्तित्व भी दोनों का मिला-जुला रूप है ✱

समीक्षा

कठिन नहीं है किसी रोते हुए बच्चे को हंसाना

■ क्षमा शर्मा
कथाकार एवं आलोचक

संपर्क : 17 बी, हिंदुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट, मयूर विहार-1, दिल्ली-110091

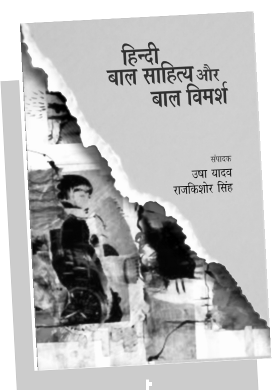

पुस्तक : हिन्दी बाल साहित्य और बाल विमर्श
संपादकः उषा यादव एवं राजकिशोर सिंह
प्रकाशकः सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली-110002
प्रकाशन वर्षः 2014
मूल्यः ₹595

उषा यादव वर्षों से बच्चों के लिए लिख रही हैं। हाल ही में सामयिक प्रकाशन ने उनकी पुस्तक 'हिंदी बाल साहित्य और बाल विमर्श' छापी है। इस पुस्तक के लेखक द्वय हैं- उषा यादव और राजकिशोर सिंह। बच्चों से संबंधित आलोचनात्मक पुस्तकें कम प्रकाशित होती हैं। इसका कारण है साहित्य के तथाकथित सुविज्ञों द्वारा बाल साहित्य ही नहीं बच्चों की बेकदरी। अरसा पहले यूनिसेफ ने बच्चों के हालात पर जारी अपनी रिपोर्ट में कहा था कि चूंकि बच्चे वोट नहीं डाल सकते इसलिए सरकारें उन पर ध्यान नहीं देतीं। साहित्य के महारथियों को भी लगता है कि बच्चे का क्या? न लेन में न देन में। एक धारणा यह है कि बच्चों के लिए लेखन यानी कि बचकाना लेखन। एक तरफ लोग हल्ला मचाते हैं कि पता नहीं क्या हो रहा है? बच्चे किस दिशा में जा रहे हैं। उनका बचपन छिन गया है। वे उम्र से पहले बड़े हो गए हैं। वे नशे की आदतों के शिकार हो रहे हैं। वे अपराधी बन रहे हैं आदि। मगर दूसरी तरफ बच्चों के लिए ऐसा क्या किया जाए कि वे अपने बचपन को भरपूर जी सकें, इस पर कोई बात नहीं करता। उषा यादव की इस पुस्तक में समय-समय पर लिखे गए बत्तीस लेख हैं। इन सभी के केंद्र में बालक है। उसके जीवन से जुड़ी विभिन्न समस्याएं और बाल कविता-कहानी आदि पर नजर डाली गई है।

संपादकीय के शुरुआती पृष्ठों में ही निदा फाजली की नज्म से दो पंक्तियां उद्धृत की गई हैं- 'घर से मसजिद है बहुत दूर चलो यूं कर लें, किसी रोते हुए बच्चे को हंसाया जाए।' इसके आगे लेखक लिखते हैं- 'बच्चे को खुश करना कोई कठिन काम है भी नहीं। छोटी सी रंग-बिरंगी किताब हो या मामूली सी गेंद, बच्चे के चेहरे को रीझी हुई मुसकान से भर देती है।' (पृष्ठ:10) दोनों लेखक आगे लिखते हैं कि यह खुशी की बात है कि हिंदी बाल साहित्य बहुआयामी है और इसकी जड़ें पर्याप्त गहरी हैं। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास तथा अन्यान्य विधाओं में बाल साहित्य लिखा जा रहा है। लेखकों का मानना है कि बच्चे के विकास में परिवार की भूमिका अहम है। यह बात सही भी है। पश्चिमी देशों में जहां परिवार टूट चुके हैं वहां दो दशकों से समाज के तमाम ओहदेदार कह रहे हैं कि अगर बच्चे को बचाना है, आगे की पीढ़ियों का भविष्य सुरक्षित करना है तो परिवार की वापसी होनी चाहिए। बच्चे के विकास में परिवार से बड़ा और महत्त्वपूर्ण कोई नहीं हो सकता है। लेकिन हमारे यहां हम तमाम किस्म के अधिकारों की बात करते हुए पश्चिम की ओर भाग रहे हैं। परिवार को जितने धक्के हमारे यहां लग रहे हैं उसमें बच्चे के भविष्य को सुरक्षित करने की बात कौन करे?

पुस्तक में कामना सिंह के लेख भी हैं। बाल साहित्य के उद्भव और विकास लेख में भारतेंदु युग से लेकर अब तक की बाल साहित्य की यात्रा को पाठकों के लिए पेश किया गया है। समकालीन बाल साहित्य के बारे में लिखते हुए लेखिका कहती हैं कि समकालीन बाल साहित्य विषय वैविध्य की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती युगों से कहीं बढ़-चढ़कर है। जो नए विषय आज के बच्चों का मन मोह रहे हैं वे हैं- बाल मनोविज्ञान का धरातल, विज्ञान के ऊंचे क्षितिज, रहस्य की अनूठी दुनिया और बच्चे का अपना जीवन।

लेखिका की यह शिकायत भी है कि हिंदी बाल साहित्य में अभी तक समीक्षा के मानदंड स्थापित नहीं हुए हैं। सच तो यह है कि बाल साहित्य समीक्षा को किसी आचार्य रामचंद्र शुक्ल की जरूरत है। इसी तरह का सवाल बाल साहित्य दशा और दिशा में उषा यादव करती हैं। और कहती हैं कि दरअसल बच्चों के लिए लिखना एक कला नहीं चुनौती भी है। दूरदर्शन के भौंडे, अश्लील या हिंसा से भरे कार्यक्रम आज बच्चों के लिए पुस्तकों का विकल्प सा बन गए हैं। शक्तिमान बनने के फेर में जब बच्चा छत से कूदने

लगे या दूरदर्शन पर वाशिंग मशीन की झकाझक सफेदी के विज्ञापन से चमत्कृत होकर अपनी सालभर की सांवली बहन की धुलाई कर दे तो उस त्रासदी की सहज ही कल्पना की जा सकती है। इस लेख में उषा जी दूरदर्शन तक ही सीमित हैं। आज इंटरनेट पर हाथ आजमाने वाले बच्चों के सामने तो दूरदर्शन फीका ही पड़ गया है और पीछे छूट गया है। इंटरनेट का इस्तेमाल करने वाले बच्चे अपनी उम्र से बहुत जल्दी बड़े हो रहे हैं। वे हिंसा को आदर्श की तरह देखते हैं।

उनका कहना सही है कि विश्व की आबादी में एक तिहाई संख्या बच्चों की है। वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज और भाषा की दृष्टि से भले ही उनमें भिन्नता हो पर चिंतन के धरातल पर वे एक हैं। शायद इसीलिए हैरी पॉटर की लोकप्रियता का जादू पूरे विश्व के बच्चों के सिर पर एक साथ चढ़कर बोला है। वे कहीं भी रहें, किसी भी परिवेश में रहें, सदैव एक सा सोचते-विचारते नजर आएंगे। संसार के किसी भी कोने में रहने वाले बच्चों की अंतरात्मा में झांकने पर हम उन्हें हमेशा दर्पण जैसे उजले मन का पाएंगे। उनका यह भी मानना है कि बाल पत्रकारिता ने भी पूरे देश के बच्चों को एक सूत्र में जोड़ने में अपनी अहम भूमिका निभाई है।

'हिंदी बाल कविता और बालमन' निबंध में वह पुराने जमाने से लेकर तमाम बाल कवियों द्वारा रचित बाल कविताओं का उदाहरण देती हैं। इन कविताओं के जरिए बच्चे के मन में चल रहे तमाम भावनाओं का वर्णन किया गया है। रमापति शुक्ल की कविता के कुछ अंश-

'खूब बड़ा सा अगर कहीं,
संदूक एक मैं पा जाता।
ऊजस में दुनियाभर का चिढ़ना,
गुस्सा आदि समा जाता।।
तो मैं सबका क्रोध, घूरना, डांट और फटकार सभी
छीन-छीनकर भरता सबसे पाता जिसको जहां जभी।।'

वह यह भी कहती हैं कि हिंदी बाल कविता में बालिका की चर्चा बहुत कम है। राजा-रानी की कहानियां भी प्राय: एक था राजा से शुरू होती हैं। राजा या राजकुमारों के मुकाबले रानी या राजकुमारियों को कमजोर दिखाया जाता है। आमतौर पर राजकुमारों के हिस्से जोखिम भरे काम आते हैं। शुरुआत की कविताएं लड़कियों को आगे चलकर आदर्श पत्नी बनने की शिक्षा ही देती हैं। मगर धीरे-धीरे तसवीर बदल भी रही है। आजकल वे कवि लड़कियों से जुड़ी समस्याओं पर खास ध्यान दे रहे हैं। घरेलू कार्यों में रात-दिन जुटी बच्ची से संबंधित नागेश पांडेय संजय की कविता की कुछ पंक्तियां-

'सारे बरतन मांज दिए हैं, लगा दिया है चौका
साफ-सफाई में कहने का, नहीं मिलेगा मौका
अम्मा अब मैं पढ़ लूं।'

बच्चों में मूल्य बोध जगाने के लिए उनके लिए सत्य, अहिंसा, परोपकार, करुणा आदि संबंधी कविताएं भी लिखी गई हैं। अहिंसा से संबंधित रोहिताश्व अस्थाना की एक कविता की कुछ पंक्तियां देखिए-

'पापा मुर्गा मत मारो, उसका बेटा रो लेगा,
पापा मुर्गा मत खाना, मुर्गा पेट में बोलेगा।'

बाल कविता में देश प्रेम भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। ऐसी कविताओं की जरूरत बच्चों को अपने स्कूल के फंक्शन में भी होती है। लेकिन इन कविताओं में अकसर बेहद आदर्शवाद भरा रहता है जो कभी-कभी बेहद ऊबाउ लगता है।

पुस्तक में यह सही चिंता व्यक्त की गई है कि आज उपभोक्तावाद को हर स्तर पर बढ़ावा देने की कोशिश की जा रही है। बाजार की शक्तियां बच्चे को सबसे बेहतरीन उपभोक्ता के तौर पर देख रही हैं। ग्लोबलाइजेशन के जमाने में देशों की भौगोलिक सीमाएं मिट चुकी हैं। तकनीक ने बच्चों के जीवन में सेंध लगा दी है। मोहम्मद फहीम की कविता में मोबाइल से कुछ ऐसे शिकायत की गई है-

'बोलो मेरा दुश्मन कौन, पापा का मोबाइल फोन।'

'हिंदी बाल पत्रकारिता के विविध आयाम' एक महत्वपूर्ण निबंध है। इसमें भारतेंदु युग से आज तक की बाल पत्रकारिता की पड़ताल की गई है। उषा यादव यह भी मानती हैं कि बच्चों के बीच कविता-कहानी सबसे लोकप्रिय विधाएं हैं। कहानी में 'फिर क्या हुआ' की जिज्ञासा और कविता की लयात्मकता बच्चों को बहुत पसंद आती है।

कुल मिलाकर यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है। बाल साहित्य संबंधी शोध करने वाले शोधार्थियों को इसे जरूर पढ़ना चाहिए। ✱

बच्चों से संबंधित आलोचनात्मक पुस्तकें कम प्रकाशित होती हैं। इसका कारण है साहित्य के तथाकथित सुविज्ञों द्वारा बाल साहित्य ही नहीं बच्चों की बेकदरी। अरसा पहले यूनिसेफ ने बच्चों के हालात पर जारी अपनी रिपोर्ट में कहा था कि चूंकि बच्चे वोट नहीं डाल सकते इसलिए सरकारें उन पर ध्यान नहीं देतीं। साहित्य के महारथियों को भी लगता है कि बच्चे का क्या? न लेन में न देन में। एक धारणा यह है कि बच्चों के लिए लेखन यानी कि बचकाना लेखन।

SUDARSHAN

SYLVERTON, STATION ROAD,
MAHIM, — BOMBAY.

22-9-47

भाई चन्द्रगुप्त, नमस्ते। कुछ दिन हुए, मैंने एक पत्र आपको लिखा था, आशा है, मिला होगा। मगर इस बीच में पुलके नीचे से बहुतसा पानी बह गया, और वृक्षोंके बहुतसे पत्ते गिर गए। पंजाबमें जो कुछ हुआ है, वह ऐसा है, कि हिन्दुस्तान उसपर सदियों रोए, और सदियों पश्चाताप करे। हजारों नहीं लाखों आदमी मर गए, और हजारों घर उजड़ गए, और आदमी पागल होकर जानवरोंसे भी बुरा बना। हम बम्बईमें हैं, बम्बई में आग बससे बाहर नहीं हुई, मगर पंजाबसे जो समाचार आते हैं, वह दिलको हिला देते हैं, और रातोंकी नींद हराम हो जाती है। भगवान करे, आप सब लोग खैर-खैरियत से हों। जिनके बारेमें हमें चिन्ता है, उनमें आप भी हैं, और आपके कुशल-समाचारसे हमें खुशी होगी।

कृष्णाजी को हमने तसवीरें, और पत्र भेज दिए थे, उनका कोई जवाब नहीं आया। आप भी २५ सितम्बर तक यहां आने वाले थे। मगर देशकी गड़बड़के कारण कौन आए जाए? फिर भी कृपा करके सूच

श्री सुदर्शन द्वारा श्री चंद्रगुप्त को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

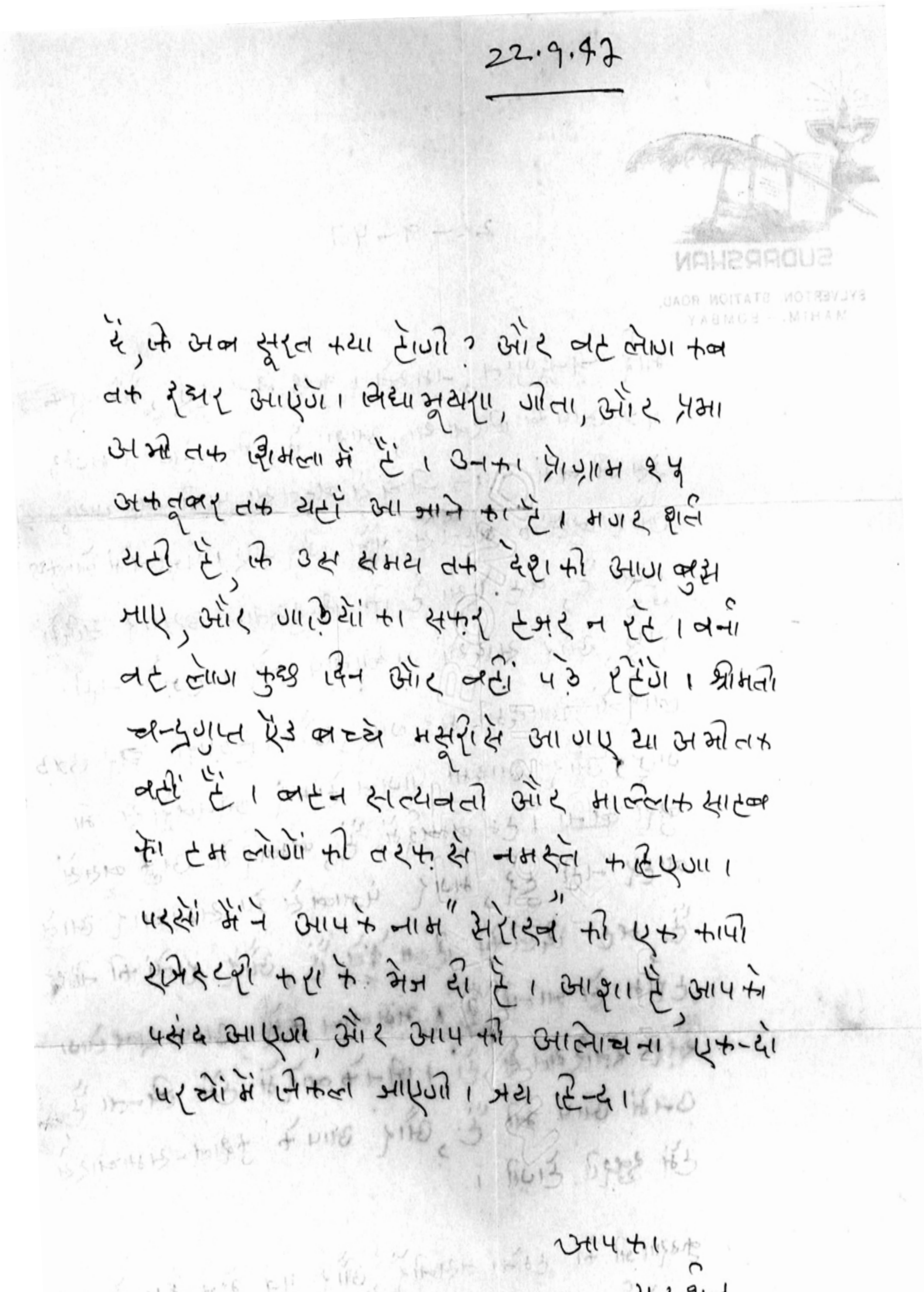

22.9.47

है, कि अब सूरत क्या होगी? और वह लोग कब तक इधर आएंगे। विद्याभूषण, गीता, और प्रभा अभी तक शिमला में हैं। उनका प्रोग्राम २५ अक्तूबर तक यहाँ आ जाने का है। मगर शर्त यही है, कि उस समय तक देश की आग बुझ जाए, और गाड़ियों का सफ़र ख़तर न रहे। वर्ना वह लोग कुछ दिन और वहीं पड़े रहेंगे। श्रीमती चन्द्रगुप्त ऐंड बच्चे मसूरी से आ गए या अभी तक वहीं हैं। बहन सत्यवती और मल्लिक साहब को हम लोगों की तरफ़ से नमस्ते कहिएगा।

परसों मैंने आपके नाम "सरोश" की एक कापी रजिस्टरी करा के भेज दी है। आशा है, आपको पसंद आएगी, और आप की आलोचना एक-दो पर्चों में निकल जाएगी। जय हिन्द।

आपका
सुदर्शन

श्री सुदर्शन द्वारा श्री चंद्रगप्त को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

हिंदी की आधुनिक कविता में स्त्री विमर्श

■ **क्सेनिया लेसिक**
युवा आलोचक

संपर्कः भारतीय भाषा विभाग, मास्को विश्वविद्यालय, मास्को

अनामिका के कविता संग्रह 'कविता में औरत' में 25 कविताएं हैं जिनमें से मैंने सोलह कविताओं का रूसी भाषा में अनुवाद किया है। ये सभी कविताएं पिछली सदी के अंतिम दशक में लिखी गई हैं और इनमें आधुनिक भारत की स्त्रियों की समस्याओं के बारे में विचार किया गया है।

भारत में 'महिला लेखन' मुख्य रूप से बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में शुरू हुआ, जब भारत में भी औरतों ने पुरुषों से बराबरी का दर्जा मांगते हुए अपनी जंग शुरू की। ऐसा माना जाता है कि इससे पहले औरतों की स्थिति उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी तक लेखन का विषय नहीं थी। सिर्फ कुछ कवियों ने स्त्रियों के शारीरिक सौंदर्य की प्रशंसा की थी।

बाद में लेखक औरतों के बारे में लिखने लगे। पर अधिकांश लेखक पुरुष ही होते थे और वे उनकी सामाजिक स्थितियों के बारे में ही लिखते थे। औरतें इस दुनिया में अपने आप को कैसा महसूस करती हैं, उनके मन में क्या है, उनकी सामाजिक बनावट कैसी है और अपने जीवन का वर्णन वे किन रंगों से करती हैं, इसके बारे में बहुत कम लिखा जाता था। पर जैसे-जैसे समाज में बदलाव हुआ, औरतों के प्रति पुरुषों का व्यवहार बदलने लगा। महिलाओं को शिक्षा मिलने लगी। अब वे लेखिका और कवयित्री हो सकती थीं। उदाहरण के लिए मीराबाई, महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान और उनके बाद गगन गिल, सविता सिंह, नीलेश रघुवंशी, अमिता भारती, अनामिका आदि कवयित्रियां हिंदी में दिखायी देती हैं।

हिंदी के 'महिला लेखन' में नई पीढ़ी की एक तेजस्वी प्रतिनिधि हैं- अनामिका, जो हिंदी की प्रसिद्ध कवयित्री, आलोचक और अनुवादक हैं। अपनी कविताओं में अनामिका उन सामाजिक स्थितियों के बारे में बताती हैं जिनमें स्त्री के भीतरी भावावेश छिप जाते हैं और जिनमें अपनी संस्कृति का आदर ही नहीं, दुनिया के अनुभव झलकते हैं।

अनामिका की किताब में हमें हर कविता से पहले और उसके बाद कविता के बारे में विशेष टिप्पणी मिलती है जिसमें वह यह बताती हैं कि उन्होंने यह कविता क्यों लिखी है। और अकसर वह दुहराती हैं- 'मैं भी इस स्थिति का सामना कर सकती थी।' इसलिए कहना चाहिए कि उन्होंने हर कविता में अपने व्यक्तिगत अनुभव के बारे में ही लिखा है।

उनकी कविताओं में औरतों की सामाजिक अधिकारहीनता ही नहीं, अन्य समस्याएं भी दिखायी देती हैं जैसे- 1. औरतों द्वारा अपने 'स्व' की पहचान यानी जीवन में वे खुद को किस जगह पर देखती हैं और कैसे समझती हैं। 2. बच्चों के पालन-पोषण और पारिवारिक समस्याएं, जो औरत को तरक्की के लिए कोई संभावनाएं नहीं देती हैं। 3. स्त्री के आसपास स्थित दूसरे लोगों की उसके प्रति उदासीनता और औरत का उनके अधीन होना। 4. अपने आसपास के लोगों और उनकी परिस्थितियों से उसके सपनों का कोई मेल नहीं होता और उसे कठोर वास्तविकताओं का सामना करना पड़ता है।

अनामिका कविताओं में स्त्री की जिंदगी को उसके जीवन, उसके मातृत्व, उसके पारिवारिक दायित्वों, उसकी संवेदनशीलता, उसकी मौत और उसके प्यार की सहायता से दिखाती हैं। उनकी कविताओं के ये विषय ही हमें यह समझने में मदद करते हैं कि आधुनिक भारत में महिलाएं किन समस्याओं को लेकर चिंतित और परेशान हैं।

कविताओं का अनुवाद करते समय हमने यह देखा कि अनामिका की कविताओं में स्त्रियों को एक ही समय में मजबूत और कमजोर दिखाया गया है। उदाहरण के लिए- 'मैं एक दरवाजा थी' नामक एक कविता में स्त्री का व्यक्तित्व बहुत मजबूत दिखायी देता है, जिसमें नायिका सब अपमान सहने के बावजूद अपने सपने को

हिंदी की कवयित्री अनामिका अपनी रचनाओं में स्त्री के व्यक्तित्व का महत्व किन्हीं महान उपलब्धियों को प्राप्त करने में नहीं बल्कि एक मां के तौर पर आत्मत्यागी बलिदान के रूप में स्वीकारती हैं। यह बात भी दिलचस्प है कि अनामिका की कविताएं बेहद बौद्धिक लगती हैं। उनकी कविताएं दार्शनिक कविताएं हैं। उनकी कविताओं में औरत एक छोटी लड़की की उम्र से लेकर बूढ़े होने तक अपने 'मैं' या अपने 'स्व' की तलाश करती रहती है। और वे इन कविताओं में औरतों की दुनिया को समझने व उनकी मानसिकता को बुनने और उनके अंतरिक्ष को रचने की कोशिश करती हैं।

पूरा करती है और आगे भी नए-नए सपने देखती है।

अपनी कविता 'अभ्यागत' में वह स्त्री के कमजोर व्यक्तित्व को दिखाती हैं। कविता की नायिका के लिए हर दिन एक 'निष्कासन' है। अनामिका औरत को अपने पिता का, फिर अपने पति और बेटे का 'प्रतितोलक' समझती हैं। औरत अपने परिवार में दूसरों की इच्छा पूरी करते-करते हमेशा खुद असहाय और अकेली रह जाती है लेकिन उसी समय में उसके जीवन पर लगा परिवार का बोझ हर औरत की शक्ति है। वह उसकी 'आग' है जिसकी मदद से जीती है, काम करती है और निर्माण करती है।

हिंदी की कवयित्री अनामिका अपनी रचनाओं में स्त्री के व्यक्तित्व का महत्व किन्हीं महान उपलब्धियों को प्राप्त करने में नहीं बल्कि एक मां के तौर पर आत्मत्यागी बलिदान के रूप में स्वीकारती हैं। यह बात भी दिलचस्प है कि अनामिका की कविताएं बेहद बौद्धिक लगती हैं। उनकी कविताएं दार्शनिक कविताएं हैं। उनकी कविताओं में औरत एक छोटी लड़की की उम्र से लेकर बूढ़े होने तक अपने 'मैं' या अपने 'स्व' की तलाश करती रहती है। और वे इन कविताओं में औरतों की दुनिया को समझने व उनकी मानसिकता को बुनने और उनके अंतरिक्ष को रचने की कोशिश करती हैं।

अनामिका की कविताओं की नायिकाएं सभी भारतीय महिलाओं की आवाज हैं। अनामिका अपनी कविताओं में स्त्री की तुलना कहीं 'द्रौपदी की साड़ी' से करती है, तो कहीं उसे सूरज जैसा मानती हैं जो नए जीवन को जन्म देता है। आखिरकार, अनामिका की कविताओं में स्त्री अपने घर और चमड़ी से मुक्त हो जाती हैं और उसके पास केवल आत्मा शेष रह जाता है। वह स्त्री की तुलना उस दीपक से करती हैं जो सब परीक्षणों से गुजरकर भी सदैव जलता रहता है और दूसरों को सदा प्रकाश देता रहता है।

अनामिका सीधे-सीधे या छिपे ढंग से अपनी कविताओं में भारतीय समाज की समस्याओं के बारे में बताती हैं- उदाहरण के लिए- वे भारतीय समाज में स्त्री को मिले हुए सीमित अधिकारों तथा उसके विचारों के नकार का जिक्र करती हैं। लेकिन अनामिका स्त्री के अंदर के भावावेश और इस दुनिया में अपनी जगह तलाश करने की उसकी इच्छा पर भी जोर देती हैं। ✱

टैगोर के व्यक्तित्व के अनदेखे-अनजाने पहलू

■ **उषा महाजन**
कथाकार एवं अनुवादक

संपर्क : 8146 , सेक्टर -बी, पॉकेट-11,नेल्सन मंडेला रोड, वसंत कुंज, नयी दिल्ली-110070

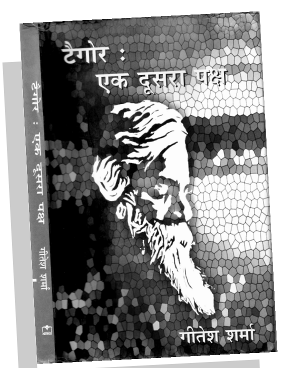

पुस्तक : टैगोर : एक दूसरा पक्ष
लेखक : गीतेश शर्मा
प्रकाशक : आलोकपर्व प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली - 110032
प्रकाशन वर्ष : 2013
मूल्य : ₹275

पत्रकार, लेखक गीतेश शर्मा की लगभग सभी पुस्तकों में समसामयिक ज्वलंत विषयों के प्रच्छन्न पक्षों को सरल-सहज भाषा में पाठकों के सामने रखने का प्रयास किया गया है। 'धर्म के नाम पर', 'सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे', 'पंजाब- सुलगता सवाल', 'विकृत समाज', 'विद्रोही कवि- नजरुल इस्लाम' आदि सभी पुस्तकों में उन्होंने समस्या के उस दूसरे पहलू पर बात की है, जिसके बारे में आमजन लगभग अनभिज्ञ होते हैं।

कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रति सहज सम्मान एवं आदर भाव रखते हुए, इस पुस्तक में उनके उन मानवीय पक्षों को भी सामने रखने का साहस/दुस्साहस किया गया है, जो अब तक सामान्य पाठक के संज्ञान में नहीं थे। समकालीन लेखकों शरतचंद्र, बंकिम चंद्र एवं नजरुल इस्लाम आदि के साथ उनके खट्टे-मीठे संबंधों के अलावा विवेकानंद, निवेदिता और गांधी जी के साथ उनके घटते-बढ़ते समीकरणों का ब्यौरा भी, जानकारी के लगभग नए कपाट खोलता है।

रहस्योद्घाटनों की शुरुआत रवीन्द्रनाथ टैगोर के पितामह द्वारकानाथ टैगोर से होती है, जिन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी की साझेदारी में 1834 में 'टैगोर एंड कंपनी' नामक व्यापारिक प्रतिष्ठान की स्थापना की थी। इन संबंधों के चलते, तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्य ने उन्हें 'प्रिंस' की उपाधि से विभूषित किया। टैगोर नाम भी अंग्रेजों का ही दिया हुआ था। वे दो बार लंदन गए और 1846 में उनका निधन भी लंदन में ही हुआ।

रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर ब्रह्म समाज के प्रवर्तक थे। उनकी कुल पंद्रह संतानें थीं और रवीन्द्रनाथ चौदहवीं संतान थे। गीतेश शर्मा लिखते हैं- 'ज्ञात रहे कि टैगोर परिवार को ब्रिटिश भक्ति के एवज में आज के बांग्लादेश से लेकर ओडिशा तक हजारों वर्ग किलोमीटर भूभाग की जमींदारी हासिल हुई थी। रवीन्द्रनाथ ने कुल बारह विदेश यात्राएं कीं, जिनका खर्च देश-विदेश के उनके प्रशंसक वहन करते थे। 31 मई, 1926 को वे इटली के तानाशाह मुसोलिनी से मिले, जो उनकी रचनाओं का प्रशंसक था।

बाद में मुलाकात की तीव्र आलोचना हुई, तो वह बोले कि उनके मेजबानों ने उन्हें जमीनी हकीकत से परिचित नहीं कराया था। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने जीवन में मात्र एक 'बंग-भंग-विरोधी' जन-आंदोलन में भाग लिया और उसमें नेतृत्वकारी भूमिका निभायी, परन्तु वह आंदोलन 'बंग-भंग' (1905) के विरुद्ध था, न कि भारत की स्वाधीनता के लिए। 'बंग भंग' आंदोलन के बाद तो रवीन्द्रनाथ ने राजनीति से लगभग संन्यास ही ले लिया।'

रवीन्द्रनाथ टैगोर के ही समय में बांग्ला साहित्याकाश में तीन नए सितारों का उदय हुआ और वे थे- जतीन्द्रनाथ सेनगुप्त (1887-1954), मोहितलाल मजुमदार (1888-1952) और नजरुल इस्लाम (1898-1976)। इनका लेखन रवीन्द्रनाथ से अलग धारा का था। समसामयिक बांग्ला कथा साहित्य में भी नरेशचंद्र सेनगुप्त (1882-1964), जगदीश गुप्त (1886-1957) और शैलजानंद मुखर्जी (1901 -1976) आदि अपने कथा साहित्य में एक भिन्न प्रकार के यथार्थवाद को लेकर हाजिर हुए- जिनमें आदिवासी कोयला-मजदूरों की कहानियां थीं, गरीब-गुरबों की यातनाएं थीं और थीं कलकत्ता की गंदी बस्तियों की जीवन गाथाएं। उन दिनों, दरअसल साहित्य के दो खेमे थे। एक खेमा आभिजात्य तथाकथित कुलीनों का था, दूसरा- आम आदमी और उसकी समस्याओं से जुड़ा, उन साहित्यकारों का था, जो व्यवस्था और विदेशी सरकार के विरुद्ध लिख रहे थे। जाहिर है, रवीन्द्रनाथ कुलीन खेमे का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। उनके उपन्यास 'चार अध्याय' की प्रतियां तत्कालीन ब्रिटिश सरकार खरीद कर कारागार में

बंदी स्वतंत्रता सेनानियों के बीच वितरित किया करती थी ताकि स्वाधीनता के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने वाले क्रांतिकारियों को गुमराह किया जा सके। 'चार अध्याय' में कुछ क्रांतिकारी चरित्रों को चरित्रहीन और गुमराह बताया गया है।

उन्हीं दिनों रवीन्द्रनाथ की टक्कर समकालीन बांग्ला उपन्यासकारों बंकिमचंद्र चटर्जी और शरतचंद्र (1876-1938) के साथ भी रही। बंकिमचंद्र चटर्जी की मृत्यु 8 अप्रैल,1894 को हुई। उनकी शवयात्रा में इतनी भीड़ उमड़ी कि मानो पूरा कलकत्ता ही नीमतल्ला घाट की और चल पड़ा हो। 28 अप्रैल को स्टार थिएटर में हुई शोकसभा में लगभग पंद्रह सौ लोगों ने भाग लिया, जिनमें रवीन्द्रनाथ भी थे। अपने वक्तव्य में उन्होंने बंकिमचंद्र की साथ ही उनकी आलोचना करते हुए कहा कि बंकिम के साथ ही उनका युग भी समाप्त हो गया, यद्यपि यह उल्लेखनीय है बंकिम लिखित राष्ट्रगान 'वन्दे मातरम' का विरोध करने के बावजूद, टैगोर ने इसकी धुन बनाई थी कांग्रेस अधिवेशन में इसे स्वयं गाया भी था।

इसी तरह, शरतचंद्र और रवीन्द्रनाथ के बीच मतभेद केवल साहित्यिक मुद्दों पर ही नहीं थे, बल्कि जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण भी एक-दूसरे से भिन्न थे। रवीन्द्रनाथ का गैर मिलनसार रवैया शरतचंद्र को पसंद नहीं था। शरतचंद्र के असहयोग आंदोलन का समर्थन करने और चित्तरंजन दास की अंतरंग गोष्ठी में शामिल होने के कारण रवीन्द्रनाथ के साथ उनकी आपसी दूरी और बढ़ गई थी।

काजी नजरुल इस्लाम ने 1922 में अपनी पत्रिका 'धूमकेतु' में भारत की पूर्ण स्वाधीनता की मांग की। नजरुल ने मज़दूरों-किसानों पर केंद्रित बांग्ला साप्ताहिक 'लांगल' का संपादन और प्रकाशन किया, लेकिन उनके इस महत्वपूर्ण पक्ष की बांग्ला जगत के बुद्धिजीवियों ने जाने-अनजाने में उपेक्षा ही की। रवीन्द्रनाथ टैगोर से नजरुल इस्लाम के संबंध अत्यंत औपचारिक रहे। टैगोर ने एक बार नजरुल के लेखन पर चर्चा करते हुए कहा कि वह तलवार से दाढ़ी बनाता है। इसकी प्रतिक्रिया में नजरुल ने लिखा- 'रवीन्द्रनाथ भाग्यशाली रहे हैं। उन्हें तो इस बात का अंदाज़ा भी नहीं कि युवा लेखकों को अस्तित्व बनाये रखने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ता है। कभी कभी तो भूखे भी रहना पड़ता है। रवीन्द्रनाथ हमारी कुटिया में कभी नहीं पधारे। ऐसा करते तो उनकी महानता में कुछ कमी न आ जाती। ऐसा करते तो वह देख पाते कि हमारी गरीबी कितनी विषम है।'

स्वामी विवेकानंद पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दू समाज में मानव-सेवा की अवधारणा प्रतिष्ठापित की। रवीन्द्रनाथ का जन्म 7 मई 1861 को और विवेकानंद का 12 जनवरी 1863 को हुआ था। कलकत्ते के ही दो नजदीकी मोहल्लों शिमला (स्ट्रीट) और जोड़ासांको में दोनों पले-बढ़े। नरेंद्रनाथ (स्वामी विवेकानंद) अक्सर रवीन्द्रनाथ के गीत गाते थे और जोड़ासांको ठाकुरबाड़ी में उनका आना-जाना भी था, लेकिन फिर भी हमेशा दोनों भिन्न जगत में रहते रहे।

टैगोर के जीवनीकार प्रभात कुमार मुखोपाध्याय ने अपनी पुस्तक में इस बात का ज़िक्र किया है कि कुछ लोग समझते थे कि टैगोर ने अपनी पुस्तक 'चिरकुमार सभा' विवेकानंद के संन्यासी समाज पर व्यंग्य करते हुए लिखी थी। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि टैगोर विवेकानंद और रामकृष्ण परमहंस के कार्यकलापों से मतभेद रखते थे।

टैगोर के जीवन के कुछ और महत्वपूर्ण पक्षों को रेखांकित करने के लिए, गीतेश ने एक हंगेरियन लेखिका हरमोजी रोजा की पुस्तक 'अग्निपर्व-शांतिनिकेतन' (राजकमल द्वारा 1910 में प्रकाशित हिंदी अनुवाद) के भी कुछ हिस्सों को उद्धृत किया है। 1928 में टैगोर ने एक हंगेरियन विद्वान ज्यूला गरमानुस को विश्व भारती में इतिहास पढ़ाने के लिए बुलाया था। ज्यूला और उनकी पत्नी रोजा तीन सालों तक शांति निकेतन में रहे। रोजा ने अपने तीन वर्ष के इस काल को अपनी डायरी में लिपिबद्ध किया था, जो उनकी मृत्यु के बाद पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। रोजा ने लिखा कि कैसे शांति निकेतन में बाल विवाह धड़ल्ले से प्रचलित थे और कैसे टैगोर उनका अनुमोदन भी करते रहे।

वह आगे लिखती हैं कि कैसे टैगोर अपनी विश्व भारती में किसी भी प्रकार की राजनीतिक गतिविधियों अथवा आंदोलनों के खिलाफ थे। अपनी डायरी में रोजा ने टैगोर के उद्गारों को यों लिपिबद्ध किया, 'आज्ञाभंग स्वाधीनता नहीं, यह विद्रोह है। कानून तोड़ने में किसी प्रकार का बलिदान निहित नहीं है, यह पाप है। सभी छात्रों को, जिन्होंने इस षडयंत्र में भाग लिया था, तुरंत इस संस्था से निष्कासित किया जाता

टैगोर के जीवन के कुछ और महत्वपूर्ण पक्षों को रेखांकित करने के लिए, गीतेश ने एक हंगेरियन लेखिका हरमोजी रोजा की पुस्तक 'अग्निपर्व - शांतिनिकेतन' के भी कुछ हिस्सों को उद्धृत किया है। 1928 में टैगोर ने एक हंगेरियन विद्वान ज्यूला गरमानुस को विश्व भारती में इतिहास पढ़ाने के लिए बुलाया था। ज्यूला और उनकी पत्नी रोजा तीन सालों तक शांतिनिकेतन में रहे। रोजा ने अपने तीन वर्ष के इस काल को अपनी डायरी में लिपिबद्ध किया था, जो उनकी मृत्यु के बाद पुस्तकाकार प्रकाशित हुई।

है। वे लोग अपना चेहरा यहां फिर कभी न दिखाएं। और यह शिक्षा का घर है, राजनैतिक षडयंत्र या उन्मादपूर्ण परीक्षणों की जगह नहीं। सभी अध्यापकों को तत्काल अपने-अपने काम में जुट जाना है और वे किसी भी राजनैतिक कार्यकलाप में भाग नहीं लेंगे।'

दरअसल, रवीन्द्रनाथ टैगोर गांधी जी के असहयोग आंदोलन के खिलाफ थे। उन्होंने 1920-21 में ही अपने विदेश दौरे के दौरान, अपनी अनुपस्थिति में शांति निकेतन की देख-रेख कर रहे एक साथी, अंग्रेज मिशनरी चार्ल्स फ्रीअर एंड्रूस को लिखे अपने पत्र में स्पष्ट कर दिया था कि- 'मैं बारंबार कहता हूं कि प्रकृति से मैं कोई लड़ाका नहीं, बल्कि एक कवि हूं।' असहयोग की चर्चा करते हुए जो तथ्य बार बार मेरे मन में आ रहा है कि 'बड़ो दादा (बड़े भाई, जो गांधी समर्थक थे और मैं, हम जमींदार हैं, जिसका अर्थ है कि हम ब्रिटिश सरकार के अंतर्गत राजस्व संग्रहकर्ता हैं। जब तक हम अपना सर्वस्व बेच कर राजस्व भुगतान बंद नहीं कर देते, हमें यह अधिकार नहीं कि हम छात्रों या अन्य किसी से अपना सर्वस्व कुर्बान करने को कहें।'

टैगोर नहीं चाहते थे कि उनके छात्र साहित्य, कला, शिक्षा के अलावा किसी भी प्रकार की राजनीति में पड़ें। विश्वभारती के प्रति उनका लगाव इतना प्रगाढ़ था कि मृत्यु के पूर्व घोर अस्वस्थता की दशा में भी, वह इसे लेकर चिंतित रहते थे और इसे बचाये रखने के लिए उन्होंने गांधी जी से भी मदद मांगी थी, जिनकी नीतियों के वे विरोधी रहे। टैगोर के प्रति गांधी जी की सदाशयता ही थी कि उन्होंने शांति निकेतन को बचाये रखने के लिए उन्हें पूर्ण आश्वस्त किया था। निश्चय ही, छोटे-बड़े, हर व्यक्ति के जीवन के दो पक्ष होते हैं, एक जो औपचारिकता में सजा होता है, हमें चमत्कृत और अचंभित करता है और दूसरा- जो प्रच्छन्न रहता है, एकदम करीबियों के पाले में।

बंगाल ही नहीं, पूरे देश, या यों कहें कि विश्व भर के चहेते और सर्वसम्मानित,

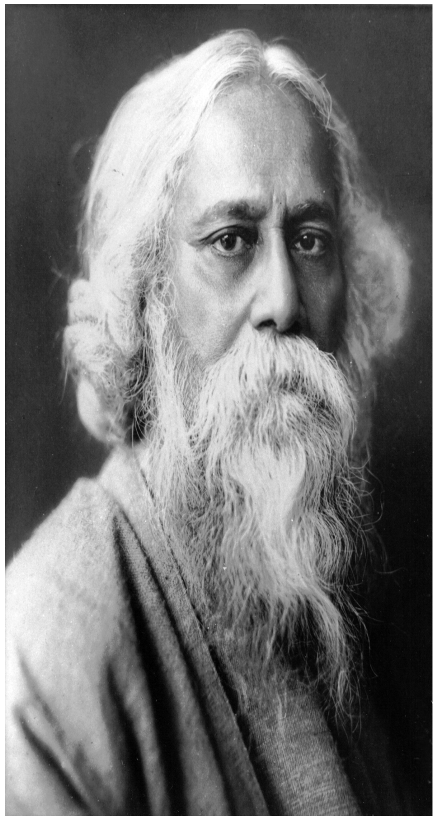

सामर्थ्यवान गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर को भी, अपने सिद्धांतों के विरुद्ध जाकर, कैसे सामाजिक परम्पराओं और रीति-रिवाजों के आगे झुकना पड़ा, इसका वर्णन भी चैंकाने वाला है। रवीन्द्रनाथ ने अपने लेख 'बिलासेर फांस' (विलास का फंदा) में दहेज प्रथा का तीव्र विरोध किया और 'देना-पावना' जैसी कहानी लिखी। बाल विवाह के विरुद्ध और विधवा विवाह के पक्ष में भी उन्होंने लिखा।

पर जब भी इनसे रूबरू हुए उन्होंने घुटने टेक दिए। पुत्री माधवी लता के विवाह में उन्होंने दहेज दिया और कष्ट सहा। अन्य दो पुत्रियों के विवाह में उन्होंने उतना दहेज नहीं दिया और एकमात्र जीवित पुत्र के विवाह में उन्होंने कोई दहेज नहीं लिया। देन-लेन के विषय में, संकीर्ण, मांगने और पाने की नंगई से रवीन्द्रनाथ अत्यधिक दुखी और क्षुब्ध हुए।

अपने एक पत्र में उन्होंने इसका उल्लेख किया है- 'मेरी बेटी के विवाह में हर बात पर जो मोल-भाव हुआ, ऐसा इससे पहले कभी नहीं हुआ था। इस बात का मुझे क्षोभ रहेगा। दस हजार के ऊपर, दो हजार का और बोझ लाद कर, स्थिति को और अधिक कुत्सित किया गया । परम आत्मीय को प्रसन्न मन से कुछ देने का सुख मुझे नहीं मिला, बल्कि मुझे निचोड़ कर मुझसे लिया गया। इस विवाह से मेरे और बेला की मां- दोनों के मन में एक क्षतचिह्न रह गया।' (मासिक बसुमति, पौष, 1365, पृष्ठ 364)

जिस समय बालिकाओं के विवाह और शिक्षा को लेकर हिंदू समाज के संरक्षकों-सुधारकों में सर्वाधिक मतभेद नज़र आ रहे थे, ऐसे में रवीन्द्रनाथ ने 'हिंदू विवाह' शीर्षक से एक सुदीर्घ निबंध लिखा और साइंस हॉल में उसका पाठ किया। निबंध में उन्होंने बाल विवाह का तीव्रतर विरोध किया था।' रवीन्द्रनाथ अपने लेखन और भाषणों में अत्यधिक प्रगतिशील, नारीवादी और समाज सचेतन थे। फिर किस प्रकार, निर्मम होकर, उन्होंने अपनी तीन कन्याओं का बाल विवाह किया? कवि ने अपनी बड़ी बेटी माधुरी लता उर्फ बेला का जब विवाह किया, उस वक्त उसकी उम्र मात्र चौदह वर्ष थी। बेला के विवाह के एक महीना चौबीस दिन बाद, उन्होंने अपनी दूसरी बेटी रेणुका उर्फ रानी का विवाह मात्र साढ़े दस वर्ष की उम्र में कर दिया। छोटी बेटी अतसीलता उर्फ मीरा का विवाह चौदह वर्ष की उम्र पार करते ही कर दिया गया था।' गुरुदेव टैगोर के निजी जीवन से जुड़े इसी तरह के अन्य प्रसंग पुस्तक में हैं।

बहरहाल, इस पुस्तक में, कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रति पूर्ण सम्मान और हार्दिक श्रद्धा रखते हुए, साहित्य एवं संस्कृति की विभिन्न धाराओं में उनके अप्रतिम योगदान को स्वीकार करते हुए, उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के उन अनछुए पक्षों पर प्रकाश डाला गया है, जिनसे उनके सामान्य पाठक और उन्हें चाहनेवाले किंचित अनभिज्ञ होंगे। उन पर शोध करने वाले शोधार्थियों को भी संभवत: इसमें उनका अभीष्ट बहुत कुछ मिले। ✱

समीक्षा

आलोचना पर विचारधारा का दबाव

■ **मनोज कुमार राय**
प्राध्यापक

संपर्क : शांति एवं अहिंसा विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005

पुस्तक : कुबेरनाथ राय की साहित्यिक-सांस्कृतिक दृष्टि
लेखक: पी एन सिंह
प्रकाशक: प्रतिश्रुति प्रकाशन, कोलकाता
संस्करण: 2012
मूल्य: ₹200

गाजीपुर के प्रमुख साहित्यकार डॉ. पी. एन. सिंह कुबेरनाथ राय के लगभग समकालीन रहे हैं। उनकी 'कुबेरनाथ राय की साहित्यिक-सांस्कृतिक दृष्टि' नामक एक बहुप्रतीक्षित पुस्तक देखने को मिली। उनकी इस पुस्तक को पढ़ते समय कई सवाल मन में उमड़ने लगे। लेखक ने कुबेरनाथ राय के करीब-करीब सभी संकलनों को गंभीरता से पढ़ा है। और वे श्री राय के बड़े प्रशंसक हैं। परंतु विवेच्य पुस्तक में यत्र-तत्र अनेक दुविधायुक्त टिप्पणियां दी गई हैं जो एक तरह से उनकी वैचारिकी से मेल खाता है।

पी. एन. सिंह लिखते हैं- 'श्री कुबेरनाथ राय हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद सबसे बड़े निबंधकार थे, लेकिन उनकी समस्या अवश्य है कि उनका पांडित्य रच-पच कर फूल की तरह सुगंध नहीं बन पाता। फिर भी उनकी श्रेष्ठता असंदिग्ध है।' विरोधाभास का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है। दरअसल, श्री राय के लेखन की खासियत रही है ईमानदारी से संदर्भ देने की। व्यक्तिगत बातचीत तक का भी संदर्भ देने में वे चूक नहीं करते। इस साफगोई को डॉ सिंह ने 'संदर्भों एवं उद्धरण की बहुलता' कहा है। श्री राय कुछ पढ़ने के बाद उसे आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत करते थे। प्राय: उन्होंने संदर्भ को स्पष्ट किया है। स्वयं उनका कहना है कि 'निबंध- साहित्य का उद्देश्य ही है पाठक के मानसिक ऋद्धि का विस्तार।' सन सत्तर के दशक में सुदूर दुर्गम इलाके में बैठकर जब श्री राय एआईआर के हवाले से मार्क्सवाद पर उच्चतम न्यायालय की टिप्पणी को उद्धृत करते हैं तो एकबारगी मन चकरा जाता है कि कितनी ईमानदारी, सूक्ष्मता और स्पष्टता से वे चीजों को सामने लाते हैं।

गांधी के प्रति श्री राय के मन में अपार श्रद्धा है। पर वह श्रद्धा अंधश्रद्धा नहीं है। जहां उन्हें फांक दिखायी दिया है, वहां अपने विचार को स्पष्ट तौर पर रखा है- 'सत्य के प्रयोग करने वाले गांधीजी ने वणिक स्वभाव में सत्य के साथ बार-बार राजनीतिक सौदेबाजी की है और इतिहास-पुरुष ने क्रूरतापूर्वक इस सौदेबाजी की कीमत हिंदुस्तानी जनता से वसूल की है'। (विषाद योग : पृष्ठ-180)

श्री राय आधुनिकता से कत्तई परेशान नहीं हैं। आधुनिकता आखिर है क्या? अतीत का वे सम्मान करते हैं। उसमें जो अच्छा है उसे पाठक के सामने रखने का प्रयास करते हैं। जो विकृतियां थीं, उस पर सही ढंग से टिप्पणी करने से भी नहीं चूकते- 'चैत में खलिहान में दांय कराते समय पशुओं के गोबर में उनके निरंतर अन्न खाते रहने से कुछ अन्न अनपचा रह जाता है। यह अन्न ये चमार गोबर में से बिन लेते हैं और इसे धो-सुखाकर गरमी के बेकारी के दिनों में इसे खाते हैं।'

लेखक का कहना है कि श्री राय 'मुसलमानों और उर्दू के प्रति असहिष्णु हैं।' मैं गणित का विद्यार्थी रहा हूं। प्राचीन भारतीय गणितज्ञों के बारे में जानने-सुनने की जिज्ञासा भी रही है। पर उमर खैयाम भी गणितज्ञ थे यह मुझे श्री राय के साहित्य से पता चला। इतनी बड़ी बात श्री राय जब कहते हैं तब वे मुसलमानों के प्रति असहिष्णु कैसे हो सकते हैं? यह समझ से परे है। हां 'छद्म सेकुलरी' की दुकान के वे खिलाफ थे। जो सच दिखा, उसे अपने अनुसार सबके सामने रख दिया। 'गंगा-जमुनी तहजीब' अथवा 'साझा-संस्कृति' से उनका तौबा ही रहा।

डा. सिंह ने स्वीकार किया है कि उनसे एकांत कभी सध नहीं पाया और श्री राय इसमें कुशल हैं। दरअसल 'साधारणीकरण' की स्थिति तक पहुंचने

की एक महत्त्वपूर्ण शर्त है 'एकांत साधना'। एकांत-साधना कठिन है। यहां तीन का ही प्रवेश होता है - सिंह, कामी और योगी। पर जब साध्य ही महत हो तो साधन भी वैसा ही होगा। गाजीपुर में रहते हुए भी उनकी दिनचर्या नहीं बदली। महाविद्यालय की राजनीति से दूर वे योगी की तरह निरंतर साधनारत रहे। अपनी निष्ठा से कभी डिगे नहीं। दिल्ली और समिति-सेमिनार से निरंतर दूरी बनाए रखा और पाठकों के 'ऋद्धि-विस्तार' में लगे रहे।

इसीलिए श्री राय कभी किसी को 'अलग-थलग पड़े' दिखते हैं तो कभी 'वैचारिक प्रतिद्वंद्वियों को लताड़ने में..... सुकून पाने' वाले मालूम होते हैं। पर श्री राय तो अन्य कार्यों के साथ-साथ सौंदर्यबोध का भी विस्तार चाहते थे। लेकिन यह सब लेखक को 'अभिजातीय दर्प, औदात्य ... से मुखरित' के रूप में दिखाई देता है। उन्होंने तो स्वीकार किया है-'मेरा जन्म तो तुलसीदास की भूमि पर हुआ है। उनके द्वारा दिए गए उत्तराधिकार का मैं भी भागीदार हूं। इसका मुझे औसत से ज्यादा घमंड रहता है।' 'हिंदुस्तान को बहुत से अक्ल देने वाले बहुतेरे आए और गए' हिंद स्वराज में गांधी का यह कथन भी उसी अभिजातीय दर्प का परिचायक है। गांधी हों अथवा कुबेरनाथ दोनों ने मर्यादा में रहकर ही इस बात को कहा है।

'दृष्टि धार्मिक अधिक साहित्यिक कम' जैसे आरोप श्री राय पर चस्पा करने से भी लेखक नहीं चूकते। धर्म अथवा साहित्य दोनों का मूल उद्देश्य तो जनता अथवा पाठक की अभिरुचि को उदात्त करना होता है। हो सकता है शब्द कुछ और प्रयुक्त किए जाएं। भाव तो एक ही है। पर 'प्रेत की तरह चढ़ बैठे 'वाम', 'दक्षिण', 'प्रगतिशील', 'प्रतिक्रियावादी', वर्ग-शत्रु', 'बुर्जूआ' आदि शब्दों ने हमारे मन-मस्तिष्क को ही विकृत कर दिया है। लिहाजा हम 'गरीब' को जब तक 'सर्वहारा'

कुबेरनाथ राय आधुनिकता से कत्तई परेशान नहीं हैं। आधुनिकता आखिर है क्या? अतीत का वे सम्मान करते हैं। उसमें जो अच्छा है उसे पाठक के सामने रखने का प्रयास करते हैं। जो विकृतियां थीं, उस पर सही ढंग से टिप्पणी करने से भी नहीं चूकते- 'चैत में खलिहान में दांय कराते समय पशुओं के गोबर में उनके निरंतर अन्न खाते रहने से कुछ अन्न अनपचा रह जाता है। यह अन्न ये चमार गोबर में से बिन लेते हैं और इसे धो-सुखाकर गरमी के बेकारी के दिनों में इसे खाते हैं।'

नहीं कहेंगे तब तक हम 'आधुनिकता' की श्रेणी में' नहीं आएंगे। यह सब कितना बेमानी है, इसका सहज ही अंदाज लगाया जा सकता है।

आज के वाम और दक्षिण आदि को श्री राय एक ही थैली का चट्टा-बट्टा मानते हैं, क्योंकि सबकी सिद्धांतबाजी मौखिक है। लेखक कहते हैं कि श्री राय की यह सोच एकांगी है और यह राजनीति की प्रकृति को न समझ पाने के चलते हैं'। आज की राजनीति की थोड़ी समझ रखने वाला भी कह सकता है कि राजनीति अब कितने पायदान नीचे गिर चुकी है। लगता है जैसे आलोचना करने के लिए लेखक ने कई जगह सिर्फ जबरदस्ती की है। लेखक श्री राय पर आरोप लगाते थकते नहीं हैं - 'श्री राय 'सैद्धांतिक स्तर पर गांधीवादी-लोहियावादी थे लेकिन व्यावहारिक स्तर पर भाजपाई। कुछ एक सहकर्मी मित्रों ने ऐसा मुझे बताया है'। इस तरह का हास्यास्पद आरोप लगाना वह भी एक लिबरल मार्क्सवादी द्वारा बेहद कचोटता है। सहकर्मी मित्रों के आरोप से तो पूरा हिंदी साहित्य ही भरा पड़ा है। पर कितनों को उद्धृत किया जा सकता है। अगर आरोपों को ठीक तरीके से सिंह साहब उद्धृत कर दें तो हिंदी जगत का काफी भला हो जाएगा। वैसे भी मार्क्सवादियों की यह पुरानी आदत है कि यदि आप उनके साथ नहीं हैं तो भाजपाई हैं अथवा संघी। क्षेत्र साहित्य का हो अथवा राजनीति का। यहां भी सिंह साहब ने अपने वैचारिक आग्रह का ही पालन किया है।

कुछ और आलोचकीय वक्तव्य देखिए -'उनकी आलोचना में शुद्धतावादी उत्साह है जो अभिभूत तो करता है पर बहुत उपयोगी नहीं है। इसके बावजूद, उसमें बहुत कुछ है जो प्रकाश देता है और मानकों की खोज एवं व्याख्या के लिए प्रेरित करता है'। लेखक आगे कहते हैं-'उनका लेखन विचारों की खान है, जिनके सहारे अनचाहे भी पाठक को बहुत कुछ सूझने लगता है। दरअसल किसी भी लेखन की सर्वाधिक सार्थकता इसी में है।' अब इस अदा पर क्या कहा जाय। लगता तो यही है कि लेखक श्री राय से सहमत है और उनके प्रति अभिभूत है पर अपनी वैचारिकी से वह लाचार हैं।

श्री राय की 'साहित्यिक दीप्ति का यह भी एक राज है। इसमें कुछ भाषिक पाखंड भी है। अतिरिक्त भावाकूलता, भाषिक अतिरिक्तता आदि,' (सिंह- पृ. 61)। 'वैयक्तिक चिंता को वैश्विक चिंता के रूप में देखने-दिखाने का अंदाज आदि साहित्य-यज्ञ की समिधाए, श्री राय के लेखन में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं' जैसा

आरोप लगाते समय लेखक यह भूल जाता है कि रामायण और महाभारत भी मूलत: स्वयं के अंदर की परिघटना है। यह तो व्यास-वाल्मीकि-तुलसी का रचनात्मक कौशल है जिसे उन्होंने वैश्विक चिंता के रूप में प्रस्तुत किया है। जिस आधुनिकता और कथा-साहित्य के प्रति लेखक दीवाने हैं वहां भी जीवन के यथार्थ बोध को इसी तरह से दिखाया गया है।

इन सबके बावजूद लेखक श्री राय के गंभीर प्रशंसक भी हैं। श्री राय का यह कहना कि 'काव्य सामाजिक स्वास्थ्य या रूग्णता का विश्वसनीय सूचक है और इस रूप में वह 'सर्वाधिक ईमानदार कला है', उन्हें बेहद अपील करती है। एक जगह लेखक कहते हैं- 'श्री राय की आस्थागत दृढ़ता ,भाषिक औदात्य, भास्वर स्वर एवं आक्रोशयुक्त निर्णायकता, यहूदी पैगंबरों तथा टामस कार्लाईल की याद ताजा कर देती हैं।' लेकिन वे जल्दी ही सावधान हो जाते हैं और पुराना व घिसा-पिटा आरोप लगाने की मुद्रा में आ जाते हैं- 'उनके लेखन में अनपेक्षित दृढ़ कथनों एवं निषेधात्मक टिप्पणियों की भरमार है, जो उनकी आस्थागत दृढ़ता, पांडित्य और भाषिक औदात्य से महिमामंडित है तथा उनकी रसमयता से सिक्त होकर विश्वसनीय बन जाती है...श्री राय का आशावाद किशोर है क्योंकि यह परिस्थितियों की ठोस समझ से न निकलकर 'सनातन' मूल्य परंपरा आदि पर आधारित है और इसी कारण अधिक यांत्रिक, वाचाल और 'रेटारिकल' है।

इस तरह के आभासी आरोपों की पुस्तक में कमी नहीं है पर विरोधाभासी कथनों की भी भरमार है। इसी क्रम में उन्होंने लिखा है- 'भारतीय पारंपरिक मेधा की एक पहचान है, सीढ़ीगत विभाजन में उसका अटूट विश्वास। श्री राय के साहित्य में इसे निर्बाध अभिव्यक्ति मिली है।' दरअसल, श्री राय जीवन की सच्चाई को स्वीकार करते हैं। विभाजन तो रहेगा ही पर यह विभाजन सिर्फ जन्मना आधारित हो यह उन्हें स्वीकार्य नहीं। यह स्थिति श्री राय को मर्माहत कर देती है- 'एक ही भौगोलिक खंड के भीतर एक ही देशकाल के मध्य कहीं पर इतिहास रुककर जड़ीभूत अहल्या हो गया था, तो कहीं पर प्रतिवेश में ही रथ पर चढ़कर श्लोक बोलता हंकड़ता चल रहा था, यों यह कोई अद्भुत बात नहीं। आज भी एक ही गांव के अंदर किसी टोले में इतिहास जड़ीभूत प्रस्तर बनकर पर्णकुटी के अंदर छह हजार वर्षों से सूप बीन रहा है ...तो किसी अन्य टोले में वह 21वीं शती का नारा लगा रहा है।' इससे कठोर टिप्पणी और क्या हो सकती है?

आभासी आरोपों की पुस्तक में कमी नहीं है पर विरोधाभासी कथनों की भी भरमार है। इसी क्रम में उन्होंने लिखा है- 'भारतीय पारंपरिक मेधा की एक पहचान है, सीढ़ीगत विभाजन में उसका अटूट विश्वास। श्री राय के साहित्य में इसे निर्बाध अभिव्यक्ति मिली है।' दरअसल, श्री राय जीवन की सच्चाई को स्वीकार करते हैं। विभाजन तो रहेगा ही पर यह विभाजन सिर्फ जन्मना आधारित हो यह उन्हें स्वीकार्य नहीं।

ऐसा नहीं है कि लेखक को राय का लेखन पसंद नहीं है- 'श्री राय ने अपने पांडित्य एवं विराट सरोकारों के बल पर हिंदी निबंध विधा को विशिष्ट व्यक्तित्व दिया और इसे विश्व के श्रेष्ठ निबंध साहित्य की कोटि के लायक बनाया है। अगर लालित्य द्विवेदी जी के निबंधों को परिभाषित करता है तो दायित्वबोध से कुबेरनाथ राय परिभाषित होते हैं, यद्यपि न द्विवेदी जी दायित्वबोध से मुक्त हैं और न श्री राय लालित्य से।' लेकिन जब मार्क्स का भूत उन पर सवार होता है तो वे आरोप लगाने में देरी नहीं करते- 'श्री राय यह नहीं समझ पाये कि आधुनिक बहुल अर्थात बहुसांस्कृतिक राष्ट्र-राज्यों में सेक्यूलरिज़्म ही व्यवहृत मार्क्सवाद है।'

लेखक के यहां मजेदार आरोपों की भरमार है, जैसे- ' श्री राय द्वारा मार्क्सवाद पर लगाए गए आरोप पुराने हैं।... अगर श्री राय मार्क्स के दायरे में हुए विवादों एवं संवादों से बखूबी परिचित रहे होते तो इन पुराने आरोपों को दुहराने की आवश्यकता न पड़ी होती। यानी हर दशक में नया आरोप गढ़ना होगा और जिस पर आरोप लगाए जा रहे हैं, उसके दायरे से परिचित हों तब कदम आगे बढ़ाएं।

फिर भी लेखक का यह कथन- 'कुल मिलाकर वे प्रगतिशील पारंपरिकता के एक विद्वान और निष्ठावान पुरस्कर्ता हैं और इसी रूप में एक अत्यंत महत्वपूर्ण साहित्यकार हैं' कुबेरनाथ राय के प्रति उनके हृदय में अवस्थित प्रेम को दर्शाता है। वे आगे लिखते हैं - 'उनका लेखन बहुआयामी, अंतर्दृष्टिसम्पन्न एवं आकर्षक है और ये ही उनके लेखक-व्यक्तित्व के आधार हैं।' इससे बेहतर समालोचना और क्या हो सकती है? लेकिन यह कहना पड़ेगा कि 'सिंह' ने 'राय' को पढ़ा तो खूब है पर वह अनपचा ही रह गया है। ✱

समीक्षा

असंतुष्टि से उपजी हुई बेचैनी की कविताएं

■ **उमा शंकर चौधरी**
कथाकार एवं आलोचक

संपर्क : द्वारा ज्योति चावला, स्कूल ऑफ ट्रांसलेशन स्टडीज एण्ड ट्रेनिंग
15 सी, ग्राउन्ड फ्लोर, न्यू एकेडमिक बिल्डिंग
इग्नू, मैदानगढ़ी,
नयी दिल्ली–110068

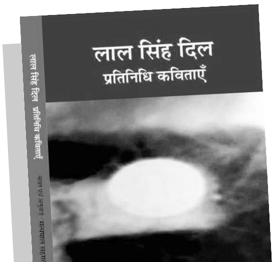

पुस्तक : लाल सिंह दिल : प्रतिनिधि कविताएं
चयन एवं अनुवाद : सत्यपाल सहगल
प्रकाशक : आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा
प्रकाशन वर्ष : 2014
मूल्य : ₹ 250

पंजाबी के मशहूर क्रांतिकारी कवि लाल सिंह दिल हिंदी के पाठकों के लिए उतने परिचित नहीं हैं जितने कि पाश हैं। पाश की कविताएं हिंदी में बहुत ही सहज रूप में उपलब्ध हैं। लेकिन पंजाबी में लाल सिंह दिल का कद पाश के बराबर का ही है। इसे महज संयोग ही कहा जा सकता है कि पाश की कविताएं बहुत पहले ही हिंदी में अनूदित हो गईं। पंजाबी में पाश, अमरजीत चंदन, हरभजन हलवारवी के साथ लाल सिंह दिल भी एक महत्वपूर्ण कवि हैं। इसलिए यह अनुवाद और यह प्रतिनिधि कविताओं का संकलन हिंदी के पाठकों के लिए एक सौगात की तरह है। इस अर्थ में यह एक जरूरी पुस्तक है। इसके लिए इसके अनुवादक और संकलनकर्ता सत्यपाल सहगल साधुवाद के पात्र हैं। सत्यपाल सहगल चूंकि खुद भी कवि हैं और पंजाबी का उनका ज्ञान बहुत समृद्ध है इसलिए इन कविताओं का अनुवाद बहुत प्रामाणिक हुआ है। सत्यपाल सहगल अपनी भूमिका में लाल सिंह दिल की कविताओं के अनुवाद को और उसे हिंदी के पाठकों के समक्ष लाने को एक चक्र को पूरा होने की तरह देखते हैं। 'क्या इतना कहा जा सकता है कि हिंदी में पंजाबी की समकालीन श्रेष्ठ कविता की प्रस्तुति का एक चक्र पूरा हुआ। दिल के बिना यह अधूरा भी था और असंतुलित भी।'

दिल की कविताओं को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि वे मजदूर वर्ग से आते थे और दलित परिवार से संबंध रखते थे। इसलिए वैचारिक रूप से वे जितने क्रांतिकारी थे उसमें उनका संघर्ष, उनकी विचारधारा के साथ उनकी जातिगत पीड़ा भी थी। वास्तव में दिल एक ऐसे कवि थे जिनकी सबसे बड़ी विशेषता थी उनकी असंतुष्टि। वे इस स्वीकृत संसार को सिरे से नकारते थे जहां कि इतनी बड़ी असंतुष्टि और असमानता बरकरार है। वे हाशिए के साथ अपने को खड़ा कर एक दूसरे ही वतन की बात करते थे। 'एक मेरे वतन की दूसरी शक्ल है/एक मेरी कौम कोई और भी है/जहां कहीं एक भी मुहल्ला/अध-भूखा/अध-सोया/सो रहा है-/कहीं भी जहां मेहनतकश/दुख रहे अंगों का दिल बहलाने के लिए/तारे गिनें।' दिल अपनी कविताओं में इस आम आदमी की 'कौम' के लिए ताउम्र अपनी कविताओं में संघर्ष करते रहे। उनकी कविता ताउम्र शिद्दत से यह चाहती रही कि आम आदमी अपनी आवाज को ऊंची करे ताकि उनकी आवाज से सत्ता की कुर्सी पर कुछ हलचल पैदा हो। 'हमारे लिए/पेड़ों पर फल नहीं लगते/हमारे लिए/फूल नहीं खिलते/हमारे लिए/बहारें नहीं आतीं/हमारे लिए/इंकलाब नहीं होते।'

दिल ने अपनी कविताओं में 'इंकलाब' शब्द का इस्तेमाल बार-बार किया है। यही कारण है कि इन कविताओं को पढ़कर पाठक अपने अंदर एक जबरदस्त उबाल महसूस करता है। दिल ने कविता को सिर्फ कविता या कला के लिए नहीं लिखा है बल्कि वास्तव में यह उनके दिल की बेचैनी है जो उन्हें सदा तकलीफ देती रही है। इसलिए जब उन्होंने इसे शब्दबद्ध किया तो ये कविताएं नारे की तरह सामने आईं।

दिल यह मान कर चलते हैं कि यह दुनिया को बदलने का जज्बा इंसान के भीतर ही है बस इसे उभारने की जरूरत है। वे लिखते हैं- 'जैसे मिट्टी में सबकुछ है/गेहूं, गन्ना, लोहा और बारूद/ऐसे जनता में सब कुछ है/लहरें, बाढ़, तूफान, इज्जत और इंकलाब।' दिल की बहुत सारी कविताएं ऐसी हैं जिन्हें पोस्टर पर लिखकर क्रांति की शुरुआत की जा सकती है और एक आंदोलन की सरगर्मी को तेज किया जा सकता है। हिंदी में ऐसे कम ही कवि हुए हैं जिनकी अहमियत इस कदर है। अगर यहां वेणुगोपाल जैसे कवि हुए भी तो उन्हें वो जगह मिल नहीं पायी। दिल अपनी कविता में लिखते हैं- 'तीन हजार चार सौ मजदूर/कैसे कंट्रोल होता है/वे बोलते हैं, भाषण देते हैं/पथराव करते हैं/पर इतने मजदूरों को/कंट्रोल कौन करता है?/कि वे इंकलाब नहीं करते।'

वास्तव में लाल सिंह दिल की कविता जिस मिजाज की हैं वह पाठक से भी उसी दिल, जुनून और

सरगर्मी की उम्मीद करती है। दिल की कविताओं को अगर आप कला की दृष्टि से देखना चाहेंगे या फिर बहुत ही मृदुता के साथ उन्हें पढ़ना चाहेंगे तो शायद आपको निराशा हाथ लगेगी। परन्तु यदि आप अपने समय, अपने समाज से जुड़कर उनकी दरारों से अपने को सम्पृक्त करके इन कविताओं से गुजरेंगे तो ये कविताएं आपके अंदर आग भर देंगी। ये कविताएं ऐसी नहीं हैं कि आप इन्हें पढ़ने के बाद भूल जाएं बल्कि ये कविताएं इस तरह की हैं कि वे आपकी नसों में बहने लगेंगी। दिल अपनी 'दूरी' कविता में लिखते हैं- 'ये रास्ते धरती और मंगल के नहीं/जिन्हें राकेट नाप सकते हैं/ना ये रास्ते/दिल्ली और मास्को या वाशिंगटन के है/जिनको आप रोज नापते हैं/यह दूरी/जो हमारे और तुम्हारे बीच है/तीरों के नापने के हैं।'' दिल वाकई इस दूरी को तीरों से नापने वाले कवि हैं।

हिंदी में यह लगभग एक अघोषित प्रथा सी है कि यहां वर्ग और वर्ण की चिंता एक साथ नहीं की जाती है। जो वर्ग की चिंता करते हैं उनकी जमात अलग है जो वर्ण की समस्या पर लिखते हैं उनकी जमात कुछ अलग है। लेकिन शायद पंजाबी में ऐसा नहीं है। लाल सिंह दिल एक दलित कवि हैं और उनके यहां जितनी गर्मजोशी के साथ वर्ग की समस्या आई है उससे कहीं से भी कम जाति की समस्या नहीं आई है। सत्यपाल सहगल ने अपनी अनुवादकीय में बिल्कुल सही लिखा है कि 'शायद इससे दलित साहित्य आंदोलन को एक नया चेहरा मिले।'

दिल की एक कविता ही है 'जात'। महज चार पंक्तियों की यह कविता जाति का पूरा विमर्श हमारे सामने खोलकर रख देती है। 'मुझे प्यार करने वाली/पराई जात कुड़िये/हमारे सगे मुरदे भी/एक जगह नहीं जलाते।' जब किसी भाषा की रचनाएं अनूदित होकर हमारे पास आती हैं तो उसका सबसे बड़ा फायदा यह होता है कि हमें यह पता चल पाता है कि हमारे यहां आखिर कहां थोड़ी कसर रह गई है।

जहां तक अनुवाद का सवाल है यह सवाल हमेशा से मौजूं रहता आया है कि कविता का अनुवाद क्या वाकई संभव है। एक कवि खुद भी जब अपनी कविताओं का अनुवाद करता है तो वह सहज नहीं हो पाता है। लाल सिंह दिल की कविताओं का अनुवाद करते वक्त सत्यपाल सहगल भी इस समस्या से जूझे हैं। चूंकि लाल सिंह दिल की पृष्ठभूमि दलित समाज की है और वे निरे ग्रामीण परिवेश से आते हैं तो उनकी कविताओं में ठेठ पंजाबी की संस्कृति और भाषा का इस्तेमाल हुआ है। सहगल लिखते हैं- 'दिल जैसा कवि, जिसकी पृष्ठभूमि ग्रामीण के साथ श्रमिक और दलित वर्ग से भी थी, औपचारिक शिक्षा सीमित थी और जिंदगी झाड़-झंखार से भरी, उसके यहां कुछ अपनी विशेषताएं हो सकती हैं, भाषा और काव्याभिव्यक्ति की, जो अपने तरीके की चुनौती पैदा करें।'

लेकिन इन चुनौतियों को पार कर सत्यपाल सहगल ने लाल सिंह दिल की कविताओं को हमारे सामने बहुत ही सहज रूप में प्रस्तुत किया है। सहगल के अनुवाद की सबसे बड़ी खासियत यह है कि उन्होंने अनुवाद में कविता की आत्मा की रक्षा की है। पंजाबी समाज और भाषा का अपना मिजाज है। सहगल ने उसे ज्यों का त्यों रखा है। उदाहरण के रूप में 'जात' कविता में 'मुझे प्यार करने वाली/पराई जात कुड़िये' पंक्ति में 'कुड़िये' शब्द को ज्यों का त्यों है जबकि इसे हिंदी में आसानी से 'लड़की' किया जा सकता था। लेकिन यहां 'लड़की' में वह बात नहीं थी जो की 'कुड़िये' में है।

कुल मिलाकर यह पुस्तक एक बड़े और महत्वपूर्ण पंजाबी कवि को हमारे सामने प्रस्तुत करती है। लाल सिंह दिल की कविताओं को पढ़ने के बाद हमेशा ऐसा लगता है कि इन कविताओं को अनूदित होने में विलम्ब हुआ है। दिल हमारे समय के महत्वपूर्ण कवि हैं। उनकी कविताएं हमारे समय के सच को बहुत ही शिद्दत से बयां करती हैं। ✱

वैचारिक लेखन और कविताओं के बीच गहन संवाद

डॉ. अशोक नाथ त्रिपाठी

संपर्क : साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005

प्रसिद्ध फिल्मकार और रंगकर्मी नाटककार गिरीश कर्नाड का लेख 'कन्नड़ सिनेमा में जाति संघर्ष' भी कई सवाल उठाता है। उनके अनुसार जब हम भारतीय सिनेमा में वर्ग संघर्ष की बात करते हैं तो उसे हिंदी सिनेमा के रूप में देखा जाता है लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि 'जब तक दक्षिण भारत की जाति-संरचना को ध्यान में नहीं रखा जाता तब तक सामाजिक क्रांति अथवा सहज राजनीति की प्रक्रिया को नहीं समझा जा सकता।

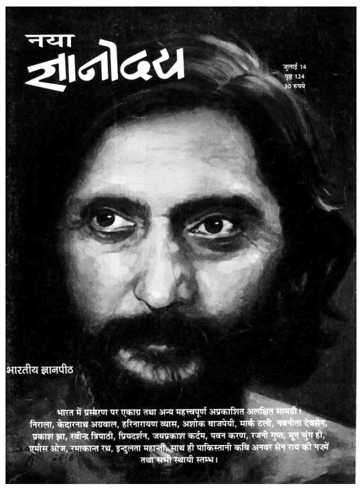

नया ज्ञानोदय

आज जिस सूचना क्रांति की चर्चा लगातार हो रही है वह भारत में रेडियो के माध्यम से शुरू हुई थी। इस बदलाव की जद्दोजहद को सामने रखकर 'नया ज्ञानोदय' के ताजे अंक के संपादकीय में मंडलोई जी ने ऑल इंडिया रेडियो की ऐतिहासिक विकास यात्रा समेत उसके आरंभिक संघर्ष, अनिश्चितता और फिर उसके विकास का खाका पेश किया है। इस पत्रिका के धरोहर स्तंभ में निराला जी की दो कविताएं 'जलद की उक्ति' और 'स्मृति' को उपलब्ध कराया गया है। गौरतलब है कि ये कविताएं मूलत: 25 फरवरी 1941 को ऑल इंडिया रेडियो, लखनऊ से प्रसारित हुई थीं। धरोहर की श्रृंखला में ही वरिष्ठ आलोचक रामविलास शर्मा का लेख 'प्रेमचंद के उपन्यास', केदारनाथ अग्रवाल का 'मैं किसान हूं', हरिनारायण व्यास का 'सीढ़ियों के नीचे' तथा कुछ कविताएं भी दी गई हैं। धीरंजन मालवे ने 'बाजार और नैतिकता के बीच मीडिया की भूमिका' शीर्षक आलेख में कई महत्वपूर्ण सवाल उठाए हैं। वे कहते हैं 'अगर नैतिकता को किनारे रख दिया जाए तो मीडिया को एक अनूठे व्यापारिक आविष्कार और आर्थिक सूझबूझ के रूप में भी देखा जा सकता है। वे मीडिया को लेकर उठने वाले सवालों से टकराते हैं।

प्रख्यात मीडियाकर्मी मार्क टुली ने अपने आलेख 'लोक सेवा प्रसारण: संतुलन की चुनौती' में बीबीसी के बहाने लोक सेवा प्रसारण का रोचक ब्योरा पेश किया है। वे मानते हैं कि यह एक बेहद चुनौतीपूर्ण कार्य है जिसमें श्रोताओं को आकर्षित करने और लोक सेवा का लक्ष्य पूरा करने वाले कार्यक्रम बनाने के लिए वाणिज्यिक प्रसारणकर्ताओं से प्रतिस्पर्धा के बीच एक संतुलन बनाए रखना जरूरी होता है। 'कथा लोक' स्तंभ में जयप्रकाश कर्दम की कहानी 'रास्ते', जीवन सिंह ठाकुर की 'मिट्ठू', सीमा आजाद की 'बंटवारा' तथा हरेप्रकाश उपाध्याय का उपन्यास अंश 'बखेड़ापुर' दिए गए हैं। इस अंक में ख्यातनाम कवि अशोक वाजपेयी की कुछ नई कविताएं विचारों के नये तेवर और संवेदना से रूबरू कराती हैं। आज की आपाधापी और चकाचौंध भरी जिंदगी में हम साहित्य से कटते जा रहे हैं। इस संवेदना को अशोक वाजपेयी कुछ इस तरह बयां करते हैं:

'हम चुप हैं:
हमारे शब्दों का संबंध टूट गया है।
....
हम दूर जाते आदमी को
उसके थैले में ठूंसे दुख को
उसके माथे की
शिकनों को महसूस नहीं कर पाते।
हम चुप हैं

हमारे शब्दों ने हमें छोड़ दिया है।'

जीवन की सच्चाई बयान करती यह कविता मननीय है। बांग्ला की विदुषी लेखिका नवनीता देव सेन का यात्रा वृत्तांत 'मृत्यु से साक्षात्कार', इजराइली कथाकार एमोस ओज की कहानी 'दो औरतें' और पाकिस्तानी कवि अनवर सेन राय की कविताएं असरदार हैं। इस अंक में आज के प्रखर हिंदी फिल्मकार प्रकाश झा का साक्षात्कार भी दिया गया है। प्रकाश एक सामाजिक सरोकार वाले फिल्मकार हैं, उन्होंने लीक से हट कर 'दामुल', 'मृत्युदंड' और 'गंगाजल' जैसी साहसिक फिल्में बनाई हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि सामाजिक सरोकार से जुड़ी जो भी फिल्में बनेंगी वे कभी धूमिल नहीं होंगी।

प्रसिद्ध फिल्मकार और रंगकर्मी नाटककार गिरीश कर्नाड का लेख 'कन्नड़ सिनेमा में जाति संघर्ष' भी कई सवाल उठाता है। उनके अनुसार जब हम भारतीय सिनेमा में वर्ग संघर्ष की बात करते हैं तो उसे हिंदी सिनेमा के रूप में देखा जाता है लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि 'जब तक दक्षिण भारत की जाति-संरचना को ध्यान में नहीं रखा जाता तब तक सामाजिक क्रांति अथवा सहज राजनीति की प्रक्रिया को नहीं समझा जा सकता। इस आलेख के बहाने उन्होंने सिनेमा में वर्ग और जाति की स्थिति को मुकम्मल तरीके से उजागर किया है। इसी अंक में रणेंद्र की 'गायब होता देश' श्रीप्रकाश मिश्र की 'जो भुला दिए गए' चित्रा मुदगल के कहानी संग्रह 'जेमिन काकी तथा अन्य कहानियां' और एस.आर. हरनोट के कहानी संग्रह 'लिटन ब्लाक गिर रहा है' शीर्षक रचनाओं की समीक्षाएं भी पठनीय हैं।

वर्तमान साहित्य

यह पत्रिका अपने हर अंक में कुछ खास महत्व की साहित्यिक सामग्री के साथ उपस्थित होती है। यह अंक प्रसिद्ध

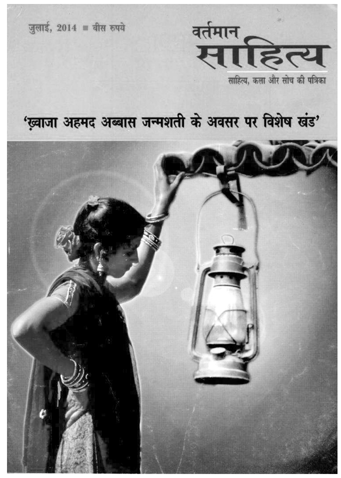

कहानीकार एवं फिल्मकार ख्वाजा अहमद अब्बास जन्मशती के अवसर पर आया है। 'अपनी बात में' समकालीन घटनाओं और परिस्थितियों पर संपादिका नमिता सिंह चिंताएं जाहिर करती हैं। अब्बास साहब को वह साहित्य और कला क्षेत्र की सभी विधाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला 'एक संपूर्ण व्यक्तित्व' मानती हैं। अब्बास साहब की जिंदगी, किस्सागोई और शख्सियत को सामने लाने वाले सीमा सगीर, अली अहमद फातमी और सगीर अफराहीम के आलेख अच्छे बने हैं।

अब्बास साहब की तीन कहानियां- 'सरदार जी', 'अबाबील' एवं 'बारह घंटे' उनके लेखन की एक रोचक बानगी प्रस्तुत करती हैं। सचमुच उनकी अफसानागिरी शोषण के खिलाफ मोर्चा कायम करती है और दबे-कुचले इंसानों की हिमायत करती है। इसी अंक में रणजीत का आलेख 'निरीश्वरवाद की परंपरा' पठनीय है जिसमें उन्होंने इस दृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या के प्रश्न को टटोलते हुए उसका आरंभ छठी सदी ईसा पूर्व स्वीकार किया है। उन्होंने पश्चिम के प्रसिद्ध नास्तिक विचारकों की एक सूची भी दी है। इस सिलसिले में भारतीय नास्तिक विचारकों की अनुपस्थिति खटकती है। उर्दू के लब्ध प्रतिष्ठित कहानीकार असद मुहम्मद खान के 'हैरत सराय की कहानियां' शीर्षक संग्रह पर प्रेम कुमार की समीक्षा पठनीय है। इस अंक की कई कहानियां और कुछ लघु कथाएं तथा कविताएं भी पाठकों को जरूर आकर्षित करेंगी। ख्वाजा अहमद अब्बास पर प्रस्तुत सामग्री इस अंक को संग्रहणीय बनाता है।

आलोचना

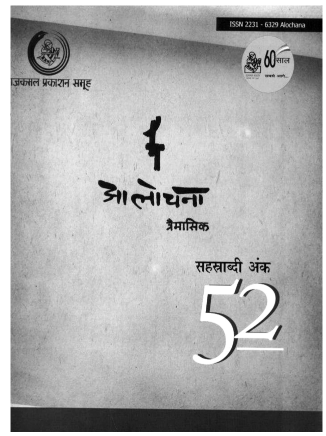

साहित्य के बुनियादी सरोकारों के साथ प्रतिबद्ध 'आलोचना' हिंदी की शीर्ष पत्रिका रही है। यह अंक भी उसी कड़ी में है। संस्कृतज्ञ राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपने आलेख 'अज्ञेय: पारम्परिक प्रज्ञा से संवाद और विसंवाद' में अज्ञेय को एक नए ढंग से व्याख्यायित किया है, बल्कि यह कहा जाए कि अज्ञेय के बहाने वे आनंदवर्धन को भी देखते हैं। अपने लेख के प्रारंभ में ही वे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'संवाद और विवाद के स्थान पर विसंवाद अधिक महत्वपूर्ण और सार्थक प्रक्रिया है' और इस सिलसिले में वे शैली विज्ञान को टटोलते हैं। अज्ञेय मौन को अभिव्यंजना मानते हैं और मौन उनके साहित्य में सर्वत्र व्याप्त है। अज्ञेय के 'मौन मुखर' प्रयोग पर टिप्पणी करते हुए त्रिपाठी जी एक सवाल खड़ा करते हैं कि 'छंद मौन भी हों और मुखर भी हों- आपाततः दोनों बातें एक साथ संभव नहीं हैं- अतः इस कथन में विरोधाभास अलंकार है।' वे अज्ञेय की

रचनाओं में परस्पर संवाद देखते हैं। उनका यह मानना है कि अज्ञेय के वैचारिक लेखन और कविताओं के बीच एक गहन संवाद है। वैचारिक स्तर पर राधावल्लभ जी अज्ञेय के संवाद को कहीं पर भर्तृहरि से, तो कहीं नागार्जुन से तो कहीं जापान की परंपराओं से बनता देखते हैं पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वे इनसे प्रभावित हुए हैं। सहमति न होने पर भी यह आलेख अज्ञेय को देखने-समझने की एक नई दृष्टि जरूर देता है।

'भारत में आलोचना सिद्धांत और व्यवहार' नामक लेख में अवधेश कुमार सिंह ने भारतीय आलोचना में पश्चिमी घुसपैठ और उससे प्रभावित होती आलोचनात्मक दृष्टि का अमूर्त सैद्धांतिक ब्योरा पेश किया है। वे कहते हैं कि 'आलोचना सिद्धांत के अंत या मृत्यु की घोषणा के वर्षों बाद आलोचना सिद्धांत पर विचार या पुनर्विचार विडंबनापूर्ण लग सकता है, पर साहित्य-आलोचना के क्षेत्र में नया या पुराना 'विज्ञान' के विमर्श से भिन्न होता है।' वे शिक्षा व्यवस्था में उपनिवेशी हस्तक्षेप से संतुष्ट नहीं नजर आते हैं और गांधीजी के संदर्भ को ध्यान दिलाते हुए आलोचना भी करते हैं। आलोचना के हालात को ध्यान में रखते हुए उनका यह आलेख बहुत प्रासंगिक है।

राजनाथ 'सश्योर, भाषा और साहित्य' शीर्षक आलेख में देरिदा के विखंडन से बात शुरू करते हैं और यह मानते हैं कि देरिदा विशिष्ट अथवा एकांतिक लक्षणों अथवा गुणों की धारणा का खंडन करते हैं। यह सर्वविदित है कि देरिदा की स्थापना के मूल में सश्योर का भाषा विज्ञान है। बख्तिन ने सश्योर के भाषावैज्ञानिक चिंतन को किस तरह प्रश्नांकित किया है उधर भी नजर दौड़ाई गयी है। बख्तिन ने अपनी पुस्तक में जिन आपत्तियों के आधार पर सश्योर के सिद्धांत पर आपत्ति उठाई उसका भी ब्योरा इस आलेख में दिया गया है। उनका यह भी कहना है कि 'प्रत्येक बिंदु पर साहित्यिक भाषा साहित्य की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती है: हम यहां साहित्य-संगोष्ठियों (सैलव), दरबार और राष्ट्रीय अकादमियों के प्रभाव तक ही अपने को सीमित रख रहे हैं। अंत में राजनाथ यह मानते हैं कि साहित्य का अस्तित्व अपनी विशिष्ट पहचान के कारण होता है। अमरकांत की कहानी 'डिप्टी कलक्टरी' पर खगेंद्र ठाकुर ने एक अच्छी टिप्पणी की है।

'मध्यकाल में नाट्य आलोचना - पूर्व और पश्चिम' में रंगकर्मी देवेंद्र राज अंकुर ने पूरब और पश्चिम की विचारधाराओं के बीच नाट्य समीक्षा के ताने-बाने की पहचान की है। 'आधुनिक भारतीय अनुवाद सिद्धांत' में राजेंद्र पांडेय का यह मानना है कि ज्ञानानुशासनों की पारंपरिक अड़चनों को दूर करने में अनुवाद की खास भूमिका है। चितरंजन कुमार ने 'राममनोहर लोहिया का भाषा चिंतन' शीर्षक आलेख में यह बताने की कोशिश की है कि लोहिया के भाषिक चिंतन की यह विशेषता रही है कि वे भाषा पर बात करते हुए भाषाशास्त्री की भूमिका में भी नजर आते हैं। उनकी शब्द शक्ति, हिंदी का सरलीकरण और भाषा निर्माण जैसी बातें गौरतलब हैं।

पूनम कुमारी द्वारा मैथिली के महान कवि विद्यापति की पदावली के पाठ में व्यक्ति स्वातंत्र्य की राह पर चलने को आतुर एक आधुनिक स्त्री है, किंतु उस स्त्री के सौंदर्य और प्रेम के चित्रण में पुरुष मानसिकता दिखाई पड़ती है। इस स्त्रीवादी पाठ में लगता है कि विद्यापति के समग्र काव्य के बोध और मूल्यांकन को नजरअंदाज सा किया गया है, पर विखंडन के युग में पाठकीय स्वतंत्रता से भी इनकार नहीं किया जा सकता। समग्रता में आलोचना का यह अंक साहित्यिक विमर्श के लिए कई बड़े और महत्वपूर्ण सवाल खड़ा करता है।

अपेक्षा

दलित रचनाकार ओम प्रकाश वाल्मीकि पर केंद्रित 'अपेक्षा' का यह अंक उन पर

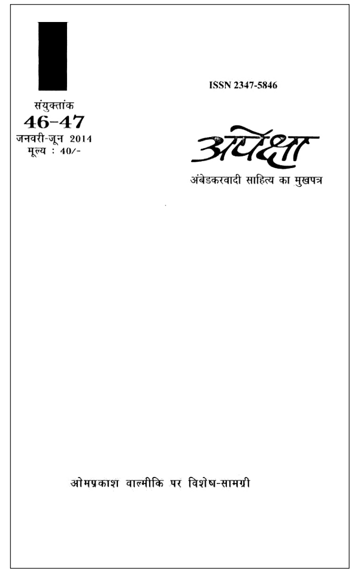

महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। संपादकीय में तेज सिंह ने माना है कि एक लेखक के व्यक्तित्व की बुनावट मूलतः उसके सामाजिक परिवेश से रची जाती है। लेखक की रचनाओं में उसका निजी अनुभव ही नहीं अपितु उसके सामाजिक अनुभव भी कभी प्रकट और कभी प्रच्छन्न रूप से प्रभावित करते हैं। यह देखा जा रहा है कि आज के दलित रचनाकार 'स्वानुभूति' को तरजीह देते हुए लिख रहे हैं। इसी के बरक्स गैरदलित रचनाकार द्वारा रचित साहित्य को 'सहानुभूति' का साहित्य कहा जाता है।

प्रेम सिंह ने यह स्वीकार किया है कि वाल्मीकि जी दलित साहित्य को 'स्वानुभूति' की परंपरा का साहित्य मानते हैं पर इसे ही उनकी कमजोरी भी माना है। संपादकीय में उन्होंने वाल्मीकि जी की रचनात्मकता के कई पहलुओं को स्पर्श किया है। 'स्मृति-शेष' स्तंभ के अंतर्गत वाल्मीकि जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'राहुल सांकृत्यायन, प्रेमचंद, शरतचंद्र, बुद्ध, मार्क्स, डॉ. आंबेडकर, गोर्की, दया पवार, बाबूराम बागुल, जेम्स वाल्डविन की रचनाओं से उन्हें दिशा मिली है' अपने आत्मकथात्मक आलेख में वाल्मीकि जी ने सवाल करते हुए समाधान भी दिया है- 'मैं क्यों लिखता हूं? इसका उत्तर कहीं बाहर से नहीं भीतर से आना

चाहिए'। इसी अंक में उनकी एक कहानी 'सपना' भी दी गयी है। 'जूठन' का समाजशास्त्रीय अध्ययन झबलू राय ने प्रस्तुत किया है। 'साहित्य-दृष्टि' स्तंभ में शरण कुमार लिंबाले के कहानी-साहित्य में नारी-उत्पीड़न की गहन पड़ताल की गयी है, साथ ही 'कन्नड़ दलित साहित्य' पर परिमल अंबेकर का आलेख महत्वपूर्ण है। उनका यह मानना है कि कन्नड़ दलित साहित्य के अध्ययन के लिए दलित आंदोलन के इतिहास पर गौर करना होगा। यह आलेख कन्नड़ दलित आंदोलन को समझने में मददगार साबित होगा। कुल मिलाकर यह अंक ओमप्रकाश वाल्मीकि पर तो महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता ही है साथ ही साथ अपने अन्य स्तंभों और सामग्री के माध्यम से दलित साहित्य के अनेक अनछुए पहलुओं से भी परिचित कराता है।

परिकथा

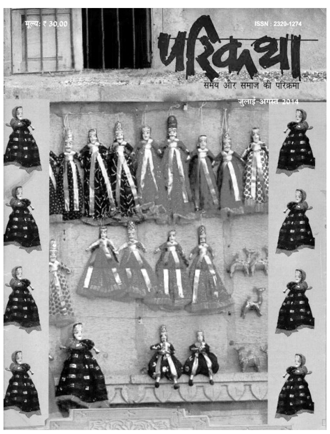

ख्वाजा अहमद अब्बास के जन्मशती को 'परिकथा' के इस अंक में विशेष स्थान मिला है। वे एक प्रगतिशील लेखक थे और प्रगतिशील आंदोलन में शुरुआत से ही शामिल रहे। उनकी प्रगतिशीलता पर कमर रईस का आलेख 'ख्वाजा अहमद अब्बास की प्रगतिशीलता' में उन्होंने चार प्रस्थान बिंदुओं या पड़ावों को रेखांकित करने का प्रयास किया है जो अब्बास साहब की प्रगतिशीलता को बराबर प्रेरित और आंदोलित करते रहे। पारिवारिक वातावरण एवं परंपराओं को पहला पड़ाव स्वीकार किया है, महात्मा गांधी की प्रेरणा दूसरा है। उनका मानना है कि जिस प्रकार गांधी जी भारत की गरीब जनता की नैतिक शक्ति और मूल्यों को अपने अंत:करण में रखते थे और उसे ही अपना पथ प्रदर्शक समझते थे वैसे ही अब्बास साहब भी गांधी के मूल्यों के हिमायती थे। तीसरा बिंदु है, नेहरू का व्यक्तित्व और अंतिम और ख़ास महत्व का है मार्क्स। खगेंद्र ठाकुर का श्रीलंका का यात्रा वृतांत केंद्रित 'सागर की लहरों पर तैरता हरियाली का पहाड़' रोचक है। स्मृति खंड में मार्केज पर विजय शर्मा का आलेख है। इसी वर्ष अप्रैल माह में मार्केज का निधन हुआ था। विजय शर्मा मानती हैं कि 'एक लेखक और एक व्यक्ति के रूप में मार्केज की ख्याति स्थान की सीमा के पार जाती है, वह कालातीत है।' इसी अंक में उनकी एक कहानी 'कुछ तो बुरा होने वाला है' भी प्रकाशित की गयी है जिसका रूपांतरण विजय शर्मा ने ही किया है। 'अधूरे लोकतंत्र का कड़वा यथार्थ' शीर्षक से तरसेम गुजराल ने मन्नू भंडारी के उपन्यास 'महाभोज' का पुनर्पाठ किया है। उन्होंने यह बताने का प्रयास किया है कि मन्नू भंडारी लोकतंत्र में जनता के हिस्से को सीमित होते देखकर विचलित होती हैं और सियासत के शक्तिशाली बने रहने की यथास्थितिवादिता को दर्ज करती हैं। युवा कहानीकार अनुज ने अपनी कहानी 'अंगुरी में डंसले बिया नगिनिया' की रचना प्रक्रिया को बताने का प्रयास किया है। शीर्षक पर बात शुरू करते हुए कहते हैं कि महेंद्र मिसिर द्वारा लिखे गए गीत, उसके संदेश से प्रेरित होकर उन्होंने यह शीर्षक चुना है। साथ ही अपनी रचना प्रक्रिया को बताते हुए आलोचकीय दृष्टि पर भी विचार करते हैं और कहते हैं कि 'आलोचकीय दृष्टि ऐसी होनी चाहिए कि इस बात की पड़ताल की जाए कि मैं ब्रह्मेश्वर मुखिया का सच लिख रहा हूं।' कहानी और उनकी रचना प्रक्रिया पर आलेख दोनों मिल कर एक अच्छी समझ पैदा करने में सहायक हैं। अन्य अस्थायी स्तंभों में हरिओम की कहानी 'तितलियों का शोर' तथा कुसुम खेमानी की 'न्याय चक्र' के साथ सभी कहानियां पठनीय हैं।

दृश्यांतर

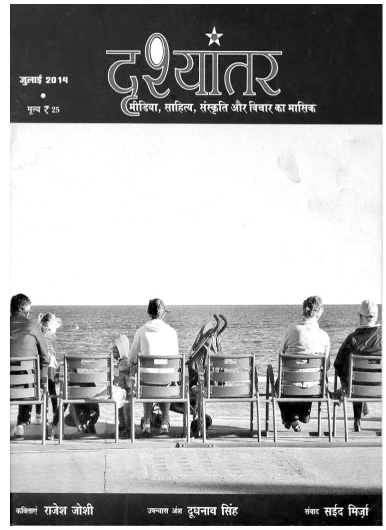

दृश्यांतर' का यह अंक हिंदी की सर्जनात्मकता का एक खूबसूरत दायरा पेश करता है। राजेश जोशी की पैनी निगाह वाली संवेदनशील कविताएं हमारे आज के खुरदरे सत्य को पहचनवाती हैं। वे लिखते हैं कि-

'कई समझदारियां, दिक्कतें और
कुटिलताएं भी
आयी हैं पिछली सदी को पार करती
सबने बना लिए हैं इसी सदी में अपने घर
एक हमारी आवाज ही है जो भटक रही है
सड़कों पर और ढूंढ नहीं पा रही है अपने
लिए शब्दों का नया घर।'

युवा फिल्मकारों पर दूरदर्शन के महा निदेशक और फिल्मकार त्रिपुरारि शरण से सईद मिर्जा की बातचीत में सिनेमा के वैश्विक परिदृश्य और भारत में थियेटर और सिनेमा की प्रवृत्तियों पर सार्थक टिप्पणी की गयी है। इस अंक में दो उपन्यास अंश भी दिए गए हैं।

दूधनाथ सिंह के 'नदी और सात बेटियां' उपन्यास के एक अंश में पूर्वी उत्तर प्रदेश के

बदलते सामाजिक परिवेश और राजनैतिक दांवपेंच पर मार्मिक टिप्पणी है। यह बदलते भारत का यह जिंदगीनामा प्रस्तुत करता है और अपने मिजाज में कुछ-कुछ 'रागदरबारी' की याद दिला जाता है। इसकी भाषिक संरचना निखालिस देसी ठाट लिए हुए है। छपने पर पूरा उपन्यास पठनीय होगा। अवधेश प्रीत के उपन्यास अंश 'अशोक राजपथ' में युवा आक्रोश को आज के देश काल के माध्यम से उपस्थित किया गया है।

विष्णु खरे ने ख्वाजा अहमद अब्बास की जन्मशती को याद किया है और उनके फिल्मी जीवन का **व्यौरा** दिया है। अब्बास की फिल्मों के योगदान को गिनाते हुए खरे उन्हें 'अनोखा प्रतिबद्ध फिल्मकार' बताते हैं। साथ में अब्बास की प्रसिद्ध कहानी 'अबाबील' भी दी गयी है।

देवेंद्र राज अंकुर ने रंगमंच पर अपनी टिप्पणी में रचना के कई-कई पाठों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। अंकुर पाठ की बहुलता को स्वाभाविक मानते हैं। उनके अनुसार अभिनेता, रचनाकार और पाठक (या दर्शक) अपनी-अपनी जगह से अलग-अलग पाठ रचते हैं। मृदुला गर्ग की कहानी 'सितम के फनकार' एक मार्मिक रचना है।

उपन्यासकार उषा किरण खान ने एक साहसिक प्रयास किया है और हीरा डोम की 'अछूत की शिकायत' कविता पर, जो पहली बार 1914 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी, एक नाटक लिखा है। यह समाज के दलित और हाशिए पर रहने वालों की जिंदगी पर बेबाक टिप्पणी है। वह नाटक आज के जीवन की इस कड़वी सच्चाई को उभारने में समर्थ है कि दलितों की मुश्किलों का अंत नहीं हैं। इस नाटक में उषा किरण खान लिखती हैं-

'ढूंढ़ निकालो राख से हीरा है अनमोल
आजादी के ढोल की पूरी पोलमपोल
किसी की खाल खिंचाओ
ढोल पर परत चढ़ाओ।'

मैनेजर पाण्डेय हीरा डोम की कविता को आधुनिक चेतना की कविता मानते हैं। वह इसे दलित अस्मिता की चिंता की कविता भी बताते हैं और 'मनुष्यता की मातृभाषा की कविता' घोषित करते हैं।

बया

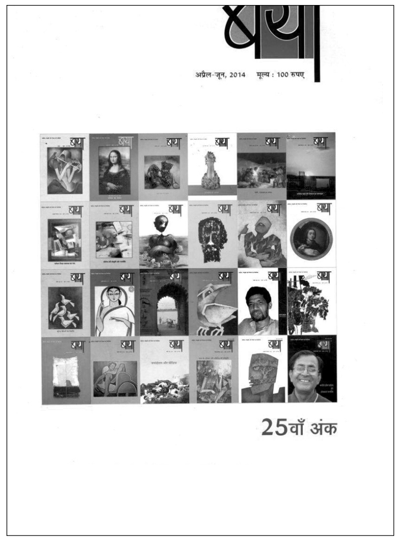

बया का अप्रैल-जून का अंक कई अर्थों में विशेष है। मैथिली-हिंदी के रचनाकार महाप्रकाश का पूरा उपन्यास 'एक निर्बंधित सुरंग', जो मूलतः 1992 में पूरा हुआ था, दिया गया है । जमीन की रजिस्ट्री (विनिबंधन) से जुड़ी उठापटक आज भी १कुछ-कुछ वैसी ही है- तल्ख और उबाऊ लालफीताशाही से भरी। महाप्रकाश ने राजनीति, क्रूर लोभ और बीमार, बेस्वाद होती जिंदगी के देशकाल को सामने रखने की कोशिश की है। 'सांस्कृतिक जागरूकता के सवाल' पर एक व्यापक परिचर्चा इस अंक की एक खास पेशकश है जिसमें तीस महत्वपूर्ण रचनाकारों ने शिरकत की है। इसमें बाजार और कॉरपोरेट दुनिया के असर के प्रति रचनाकारों की प्रतिक्रिया, ऐसे समय में जब विचारधारा खोजी जा रही है, अहम होती जा रही है।

भारत के विभिन्न भागों और भाषाओं से आने वाले इन रचनाकारों स्थानीय प्रतिरोध, संचार की भूमिका, सुरुचि की कमी, विश्वास का संकट, सांस्कृतिक-साहित्यिक संगठनों की पारंपरिक संबंध, जनता से निकटता, लेखकीय समाज के उनींदेपन, फासीवाद से लड़ने की चिंता, खरीदार और बेचने वाले के फर्क का कम होना, साझा चिंताओं और संघर्षों के आधार पर लामबंदी की जरूरत, अनुकूल संचार माध्यम की कमी, सक्रियता की जरूरत, वर्गीय समाज की टकराहट, सांस्कृतिक जागरूकता आदि विषयों पर अपने अभिमत व्यक्त किए हैं।

सुरेश सलिल को केंद्र में रखते हुए कुछ आलेख अच्छे हैं। इन आलेखों में 'बचपन की यादें और....' में स्वयं सुरेश सलिल की आपबीती पठनीय है। आनंद स्वरूप वर्मा ने सुरेश सलिल के प्रतिबद्धता की सराहना की है। कर्मेन्दु शिशिर ने उनके लेखन को संस्कृति श्रमिक का लेखन माना है। इस महत्वपूर्ण अंक में कुछ स्तंभ रोचक बने हैं। कहानी स्तंभ में अपने समय के दस कहानीकारों की कहानियों पर आलोचकों की टिप्पणियां महत्वपूर्ण है।

'कविता' नामक स्तंभ को तीन खंडों में विभाजित किया गया है। इन खंडों की यह विशेषता है कि इसका चयन तीन कवियों ने किया है। चयन का आधार प्रथमदृष्टया बहुत सार्थक नजर नहीं आता फिर भी एक साथ पैतालिस महत्वपूर्ण कवियों की रचनाओं को पढ़ने का अलग रोमांच है। कविता के पचास वर्ष पर मदन कश्यप का लेखा-जोखा पठनीय है। इसी अंक में एक साथ पच्चीस रचनाकारों की गजलों के पढ़ने का सुख है। समग्रता में देखा जाए तो बया का यह अंक स्वागत योग्य है।

संदर्भित पत्रिकाएं

1. **नया ज्ञानोदय** (जुलाई 2014) संपादकः लीलाधर मंडलोई, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, पोस्ट बॉक्स-3113, नयी दिल्ली-110003, मूल्य- ₹30

2. **वर्तमान साहित्य** (जुलाई 2014) संपादक-नमिता सिंह, 28 एमआईजी, अवंतिका-1, रामघाट रोड, अलीगढ़-

202001 (उ.प्र.) मूल्य-₹20

3. **आलोचना** (सहस्राब्दी अंक-52) सह-संपादक : आर.चेतनक्रांति, राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 मूल्य-₹50

4. **अपेक्षा** (संयुक्तांक 46-47), संपादक: तेज सिंह, प्लॉट नं. 621, सेक्टर-1, वैशाली, गाजियाबाद-201012 (उ.प्र.) मूल्य- ₹40

5. **परिकथा** (जुलाई-अगस्त 2014) संपादक: शंकर, परिकथा, 96, बेसमेंट, फेज-3, इरोज गार्डन सूरजकुंड रोड, नयी दिल्ली- 110044 मूल्य- ₹30

6.**दृश्यांतर** (जुलाई 2014) संपादक- अजित राय, दूरदर्शन महानिदेशालय, कमरा नम्बर-1027, बी विंग, कोपरनिकस मार्ग, नयी दिल्ली-110001, मूल्य- ₹25

7. **बया** (अप्रैल-जून 2014) संपादक: गौरीनाथ, सी-56/यूजीफ-4, शालीमार गार्डन एक्सटेंशन 77, गाजियाबाद-201005 मूल्य - ₹100

कोलकाता केंद्र का नया पता

विश्वविद्यालय का कोलकाता केंद्र पिछले एक अक्टूबर 2014 से पूर्वी क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र (इजेडसीसी) के परिसर में स्थानांतरित कर दिया गया है। इसका नया पता है-

क्षेत्रीय केंद्र

महात्मा गांधी अतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
ऐकतान ईजेडसीसी, आईए-290, सेक्टर-3, साल्ट लेक, कोलकाता-700097

कोलकाता केंद्र की भावी योजनाएं

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के कोलकाता केंद्र की स्थापना 02 मई 2011 को सार्क देशों को आपस में जोड़ने वाले सांस्कृतिक कारकों को बल पहुंचाने और पूर्वोत्तर भारत की भाषाओं के साथ हिंदी का संबंध प्रगाढ़ करने तथा उनसे साहित्यिक संबंध जोड़ने एवं हिंदी के संघीय स्वरूप को मजबूती देने के उद्देश्य से की गई थी। कोलकाता केंद्र का संस्थापक प्रभारी विश्वविद्यालय के एसोसिएट प्रोफेसर डा. कृपाशंकर चौबे को बनाया गया था।

कोलकाता केंद्र अपने स्थापना काल से ही भारत और सार्क के दूसरे देशों के बीच समन्वय तथा परस्पर सांस्कृतिक प्रभाव पर संवाद श्रृंखला चला रहा है। इसी तरह हिंदी और पूर्वोत्तर भारत की भाषाओं के बीच भी संवाद श्रृंखला कोलकाता केंद्र में चलाई जाती रही है। आरंभिक तौर पर पूर्वोत्तर भारत तथा सार्क देशों में साइबर पत्रकारिता की स्थिति के अध्ययन के लिए 2013-14 के शिक्षा सत्र से वेब पत्रकारिता में स्नातकोत्तर डिप्लोमा का नियमित पाठ्यक्रम प्रारंभ किया गया था।

कोलकाता केंद्र में 2014-15 के शिक्षा सत्र से एमए हिंदी, एम.फिल हिंदी (तुलनात्मक साहित्य) तथा अनुवाद में स्नातकोत्तर डिप्लोमा पाठ्यक्रम प्रारंभ किए गए हैं। हिंदी और पूर्वोत्तर की भाषाए: परस्पर संबंध उदाहरण के लिए हिंदी और काकबराक: परस्पर संबंध, हिंदी तथा बोडो: परस्पर संबंध पर एम.फिल स्तर पर तथा पीएचडी स्तर पर पूर्वोत्तर की भाषाओं की स्थिति, उदाहरण के लिए असमिया का अतीत और वर्तमान, बोडो का अतीत और वर्तमान, गारो भाषा का अतीत और वर्तमान, खासी भाषा का अतीत और वर्तमान, काकबराक भाषा का अतीत और वर्तमान, निशी भाषा का अतीत और वर्तमान आदि पर शोध कराने की योजना है।

2015-16 के शिक्षा सत्र से दक्षिण-पूर्व एशियाई अध्ययन, सांस्कृतिक अध्ययन, नाट्य कला व फिल्म अध्ययन, ललित कला तथा मानविकी के अन्य विषयों में एम.ए., एम. फिल तथा पीएचडी स्तर पर पाठ्यक्रम प्रारंभ करने की योजना है।

कोलकाता केंद्र की योजना बांग्ला, नेपाली, उड़िया तथा पूर्वोत्तर भारत और सार्क देशों के श्रष्ठ साहित्य का हिंदी में अनुवाद कर प्रकाशित करने की भी है ताकि भविष्य में शोधार्थी हिंदी साहित्य के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन कर सकें।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय
अपील

स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय हिंदी के रचनाकारों की अमूल्य सामग्री संग्रहीत करने, उसे सहेज कर रखने और सुधी अध्येताओं व शोधकर्ताओं को उपलब्ध कराने के काम में जुटा है। सूचना मिलने पर सामग्री प्राप्त करने के लिए संग्रहालय अपनी ओर से संपर्क करता है और यदि उसे साहित्यकारों के परिजनों अथवा अन्य सुधी साहित्य सेवियों की ओर से सामग्री प्रदान किए जाने का प्रस्ताव मिलता है, तो उसे सहर्ष स्वीकार भी किया जाता है।

12 मई, 2012 को हिंदी के प्रतिष्ठित कवि शमशेर बहादुर सिंह की अधिकांश सामग्री डॉ. रंजना अरगड़े ने संग्रहालय को प्रदान कर दी है, लेकिन शमशेर जी अपने जीवन काल में अनेक स्थानों पर रहे थे, अतः यह संभव है कि शमशेर जी ने अपनी कोई कविता, पेंटिंग या अन्य कोई सामग्री आप में से किसी को भेंट स्वरूप दी हो। यह भी संभव है कि शमशेर जी के जीवन–काल में ही उनकी कुछ सामग्री किसी के यहाँ छूट गई हो। अगर आप ऐसी तमाम सामग्री – पत्र, पांडुलिपियाँ, तस्वीरें, वस्तुएँ, पुरस्कार, हाथ से लिखा कोई पुर्जा, कोई स्मृति चिह्न, जो आपने अब तक अपने निजी संग्रह में सुरक्षित रखा हो, विश्वविद्यालय के संग्रहालय को देंगे, तो इससे व्यापक समाज लाभान्वित होगा और संग्रहालय आपकी इस भेंट से समृद्ध एवं गौरवान्वित होगा।

शमशेर जी की रचनावली प्रकाशन की प्रक्रिया में है। आपसे निवेदन है कि आप ऊपर संदर्भित कोई भी सामग्री शीघ्रातिशीघ्र विश्वविद्यालय को देने की पहल करें, ताकि उसका उपयोग रचनावली में किया जा सके। आपसे उपलब्ध हुई सामग्री आपके नाम के उल्लेख के साथ संग्रहालय में रखी जाएगी।

इस संबंध में आप निम्न लिखित पते पर संपर्क कर सकते हैं –

प्रभारी : स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा–442005 (महाराष्ट्र)
मोबा. 07599045113
E-mail : dr4devraj@gmail.com